Vol. 10
No. 19
DP-20

वैदिक वाग् ज्योतिः सम्पादक - दिनेशचन्द्र शास्त्री UGC CARE LISTED

UGC CARE LISTED
(Arts & Humanities)

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-20

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-10 July-December 2022 No./ अंक 19

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्षचर, वेदविभाग, गुरुकुलकांगड़ी (समविश्वविद्यालय)
कुलपति
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय
हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri (Deemed to be University)
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
July-December 2022

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GK(DU), Haridwar
Prof. Somadev Shatanshu,
Vice-Chancellor, GK(DU), Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Ex. Head, Dept. of Veda, GK(DU),
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541
Vice-Chancellor,
Uttarakhand Sanskrit University,
Haridwar-249402

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas 'Padm Shri', Athens
Prof. Balram Singh, USA
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, 'President Awardee', Delhi
Prof. Shashi Prabha Kumar, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Upendra Kumar Tripathi, Varanasi
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Renubala, Amritsar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, USA
Dr. Anju Kumari
Dr. R.G. Murli Krishna, Delhi
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna,
V.C., Patanjali University
Prof. Prahlad Joshi,
V.C., KBVSASU, Assam
Prof. Suneel Joshi,
V.C., U.A. University

Departmental Advisory Board

Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Prof. Devendra Gupta, F.O.
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 1200.00 Annual, US $ 120,
Single Copy: Rs. 600.00
Rs. 5000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Sunil Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

UGC CARE listed (Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष–10 **July–December 2022** **No./अंक 19**

सम्पादक

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्षचर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय)

कुलपति

उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार

(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)

Gurukula Kangri Deemed to be University

Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India

http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमा॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआप॒: स प्र॒जाप॑तिः॥-यजु. 32/1

पदार्थः—(तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्त्तृ सर्वान्तर्यामि (एव) निश्चये (अग्निः) ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च (तत्) (आदित्यः) प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् (तत्) (वायुः) अनन्तबलसर्वधर्तृत्वाभ्याम् (तत्) (उ) (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप-त्वादाह्लादकत्वाच्च (तत्) (एव) (शुक्रम्) आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च (तत्) (ब्रह्म) सर्वेभ्यो महत्त्वात् (ताः) (आपः) सर्वत्र व्यापकत्वात् (सः) (प्रजापतिः) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात्।

अन्वयः—हे मनुष्यास्तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत।

भावार्थ—हे मनुष्याः! यथेश्वरस्येमान्यग्न्यादीनि गौणिकानि नामानि सन्ति तथान्यानीन्द्रादीन्यपि वर्त्तन्ते। अस्यैवोपासना फलवती भवतीति वेद्यम्।

पदार्थ—हे मनुष्यो! (तत्) वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापि, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्त्ता और सबका अन्तर्यामी (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि (तत्) वह (आदित्यः) प्रलय समय सबको ग्रहण करने से आदित्य (तत्) वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा (तत्, एव) वही (शुक्रम्) शीघ्रकारी वा शुद्ध भाव से शुक्र (तत्) वह (ब्रह्म) महान् होने से ब्रह्म (ताः) वह (आपः) सर्वत्र व्यापक होने से आप (उ) और (सः) वह (प्रजापतिः) सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है ऐसा तुम लोग जानो।

भावार्थ— हे मनुष्यो! जैसे ईश्वर के ये अग्नि आदि गौण नाम हैं वैसे और भी इन्द्रादि नाम हैं, उसी की उपासना फलवाली है ऐसा जानो।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय (Editorial) *vii*
वेदसंख्या विषयक पक्ष (वेदों का एकत्व/त्रित्व/चतुष्ट्व/अनेकत्व)

हिन्दी संभाग

1. **आयुर्वेदिक निघण्टुओं का स्वरूप व परम्परा** 1
–करुणा

2. **पर्यावरण संरक्षण और संवर्धन पर वैदिक दृष्टिकोण** 16
–डॉ. प्रशान्त सरकार

3. **योग एवं आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित आहार विधि-विधान एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी उपादेयता** 22
–सुधा यादव, अमित कुमार,
डॉ. सुशील कुमार दुबे,
डॉ. विनायक कुमार दुबे

4. **स्वामी दयानन्द के चिन्तन में राष्ट्रवाद** 40
–डॉ. कामना जैन

5. **श्रीअरविन्द की दृष्टि में परमतत्त्व विवेचन** 48
–चन्द्रगुप्त

6. **अष्टांग योग के अन्तर्गत आसन की महत्ता** 55
–डॉ. संयोगिता

संस्कृत-संभाग

7. **यास्कीयनिरुक्ते आदित्यवर्णनम्** 62
–डॉ. अरुणिमा रानी

8. **वैदिककालीनऋषिकाः मन्त्रसाक्षात्कारश्च** 70
–तरुणा अवस्थी

English Section

9.	**Role of Yoga in Psychological Attributes of Learned Helplessness and Self-Efficacy : A Conceptual Framework** -Radhika Sharma, Rakesh Kumar	**78**
10.	**Psychological Insights from Śrīmadbhagavadgītā** -Dr. Chinu Agrawal, -Pratiksha Tripathi, Aashi Jain	**89**
11.	**Colour Utilization In Ancient India** Anjali Goel, Shikha	**98**
12.	**Leadership Concepts in Yogic texts** -Neha Pradeep Sangodkar -Rudra Bhandari -Pintu Kumar Mahto	**108**
13.	**Tales, Parables and Rāmakṛṣṇopaniṣad** -Sh. Bholanath Sanhotra	**125**
14.	**Anxiety and Quality of life of Irritable Bowel Syndrome Patients : An Āyurvedic and Psychological Approach** -Prof. (Dr.) Shyam lata Juyal, Megha Taragi	**133**
15.	**The Universal Science of Gāyatrī Mantra and its Practical Application** -Dr. Dev Prakash	**147**
16.	**Importance of the Vedic Christening in the Light of Modern Science** -Mallika Bhattacharjee	**157**

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (vii-xvi) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

सम्पादकीय

वेदसंख्या विषयक पक्ष

(वेदों का एकत्व/त्रित्व/चतुष्ट्व/अनेकत्व)

वेद के विषय में वेद एक है या अनेक? वेद संहिता चार ही हैं या कितनी हैं? इस प्रकार के विवादास्पद प्रश्न अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, यह बात वैदिक साहित्य के पर्यालोचकों से अविदित नहीं है। अतः अब जबकि वेदों का परिशीलन सब पक्षों में समालोचनात्मक दृष्टि से आरम्भ हो गया है, *उक्त विषय एक अनुसन्धान का विषय है* केवल यह कहकर काम न चलेगा। अब समय आ गया है कि प्रस्तुत एवं उपलब्ध अनेक पक्षों में से तात्विक दृष्टि से निर्णय कर किसी एक पक्ष को सिद्धान्त पक्ष स्वीकार करना ही होगा। अब तक वेदों के प्रति वेदविशेषज्ञों के औदासीन्य के कारण ही किसी निर्णीत सिद्धान्त पक्ष की स्थापना नहीं हो सकी। केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनकी विचारधारा का अनुगमन करने वाले कतिपय विद्वानों ने वेदचतुष्टय पक्ष की पुष्टि अवश्य की है। तथापि सविस्तर एवं विशद रूप से इसका प्रतिपादन होना अपेक्षित है। प्रायः अभी तक वेद विशेषज्ञों के सम्मुख उक्त प्रश्न, प्रश्न रूप में ही विराजमान है। अतः प्रस्तुत सम्पादकीय में पूर्व निर्दिष्ट विषय पर प्रकाश डालने का यत्न किया जाता है। वैदिक साहित्य के अवलोकन से वेद संख्या विषयक मुख्य चार पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं- 1. वेद एक ही है, 2. वेद तीन हैं, 3. वेद चार हैं और 4. वेद अनेक हैं।

इन सब पक्षों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए सिद्धान्त पक्ष का युक्ति प्रमाण से प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम पक्ष की आलोचना (वेदत्वेन वेद एक)

वेद एक ही है, इस पक्ष को मानने वाले विद्वानों का कथन है कि वस्तुतः वेद एक ही है। प्रथम वेद एक ही था किन्तु पश्चात् कालान्तर में उसका संहिता रूप में विभाजन अथवा संकलन हो जाने से वेद अनेक समझे जाने लगे। कारण, प्रायः प्राचीन ग्रन्थों में वेद शब्द का एक वचन में ही प्रयोग देखा जाता है। उदाहरणार्थ पाणिनीय शिक्षा को ही देखिए-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥

यहां एकवचन में ही वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि वेद बहुत होते तो वेद शब्द का प्रयोग बहुवचन में ही अर्थात् *वेदस्य* के स्थान पर *वेदानाम्* इस बहुवचन का प्रयोग होता परन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार महर्षि पतंजलि ने भी–

ब्राह्मणेन षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति (महाभाष्य पस्पशाह्निक)

इस पातंजल वचन में वेद शब्द का एक वचन में ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार भगवान् मनु ने भी–

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (2.6)

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ 2.7

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥ 12.96

इन स्थलों में एकवचन में ही वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्,
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति (महा.आदिपर्व)

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

(निरुक्त)

इत्यादि लेखों से भी वेद का एक होना ही सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर एक वचन में वेद शब्द का प्रयोग स्पष्टतया सिद्ध करता है कि वस्तुतः आरम्भ में वेद एक ही था पीछे से वे संहिता रूप में विभक्त होकर अनेक हो गये। इसी पक्ष का प्रतिपादन श्री दुर्गाचार्य ने भी निरुक्त भाष्य में स्पष्ट शब्दों में किया है–

वेद तावदेकं सन्तमतिमहत्वाद्दुर–
ध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः॥ इत्यादि

अर्थात् वास्तव में वेद तो एक ही है पीछे से शाखा भेद बहुत हो गये। इत्यादि।

परन्तु उक्त हेतु वेदैकत्व पक्ष की पुष्टि के लिए पर्याप्त तथा श्रद्धास्पद नहीं हो सकता। कारण, जहां अनेक स्थलों में वेद शब्द का एक वचन में प्रयोग किया गया है वहां कदाचित् प्रदर्शित स्थलों से भी कहीं अधिक स्थलों में वेद शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है, और बहुवचन में प्रयोग हुआ भी अति प्रचुरता से है। जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। अतः वेद शब्द के एक वचन में प्रयोग होने मात्र से वेद एक ही है यह सिद्धान्त पक्ष नहीं हो सकता। वस्तुतः वेदत्वेन वेद एक

है और इसी आशय से वेद शब्द का एकवचन में प्रयोग किया गया है अन्यथा एकत्र एकवचन प्रयोग अन्यत्र बहुवचन का प्रयोग वदतोव्याघात दोष से दूषित हो जाने से मान्य नहीं हो सकता। इसलिए वेद एक ही है यह पक्ष निराधार हो जाता है।

द्वितीय पक्ष की आलोचना (वेदमन्त्र प्रकार का द्योतन)

द्वितीय पक्ष वेदत्रयी अर्थात् वेद तीन हैं ऐसा स्वीकार करता है। इस पक्ष के विद्वान् ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन तीनों को ही वेद मानते हैं। इनकी दृष्टि में अथर्ववेद वेद की कोटि में नहीं आता। उक्त पक्ष की पुष्टि में अनेक प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं-

त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

(शत.11/5/8)

अर्थात्, तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद। छान्दोग्योपनिषद् में भी तीन वेद होने की पुष्टि की गई है-**अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्** (छान्दो.4/16/2) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी उक्त पक्ष का ही समर्थन किया गया है-**भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्य उवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दध्याम् किमनेन कुर्या** इति। **ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपान् अविज्ञातानिव दर्शयांचकार----वेदा वा एते--** (तै.ब्रा. 3/10/11/3/4)

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने तीन आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य का ही अनुष्ठान किया तब उस वृद्ध जीर्ण शीर्ण सुषुप्त भरद्वाज के पास आकर इन्द्र बोला यदि आपको चौथी आयु दी जावे तो आप क्या करेंगे। भरद्वाज बोले ब्रह्मचर्य ही करेंगे। तब उसने तीन पर्वत रूप दिखाये तो ये तीन वेद ही थे। इस आख्यान से भी यही सिद्ध होता है कि वेद तीन ही हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी आता है----**तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त** (ऐ.ब्रा. 25/7)

गोपथ ब्राह्मण में भी इसी आशय का लेख मिलता है- **तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमत्**- (गो.पू.1/6) अर्थात् श्रान्त एवं सन्तप्त तीन देवों से तीन वेदों का निर्माण हुआ। और भी-**सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि** (श.10/5/1/2)

अर्थात् उस वाणी का ऋक्, यजु, साम रूप से तीन प्रकार से विधान किया गया है। यही स्वयं मनु भगवान् ने भी वेदत्रयी के पक्ष का समर्थन किया है-**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्** (मनु.1/2/3) अर्थात् अग्नि वायु रवि से यज्ञ सिद्धि के लिए ऋग्, यजु तथा साम

ये तीन वेद उत्पन्न हुए। यहीं तक नहीं अन्यत्र भी वैदिक साहित्य में बहुत से स्थलों में वेदों को त्रयी विद्या के नाम से स्मरण किया गया है। निरुक्त (13/7) में भी उक्त पक्ष की पुष्टि मिलती है जैसे कि- यदेनम् ऋग्भिः शंसन्ति, यजुभिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति। अर्थात् ऋग्वेद से जिसकी प्रशंसा करते हैं यजुर्वेद से यजन करते हैं एवं सामवेद से स्तवन करते हैं। अधिकतर ऋग्, यजु तथा साम इन तीन वेदों का ही नाम देखने में आता है। अथर्ववेद का नाम तो क्वचित् ही आता है। आधुनिक विद्वानों की सम्मति में तो अथर्ववेद की रचना बहुत पीछे की है। किसी किसी ने तो यहां तक कह डाला है कि अथर्ववेद की भाषा रचना को देखते हुए तो यह वेद की श्रेणी में प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकता अतः वेद तीन ही हैं यही पक्ष मान्य है। स्वयं यजुर्वेद में भी तीन ही वेदों का वर्णन है- **यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः** (यजु. 34/6) अर्थात् जिस मन में ऋग्, यजु तथा साम रथ की नाभि में अरों की तरह प्रतिष्ठित हैं। अतः वेद तीन ही हैं इत्यादि।

वास्तव में उक्त आधारों पर जो वेदों का तीन होना सिद्ध करते हैं वे भ्रान्ति में हैं, कारण कि त्रयी विद्या से तीन वेदों का अभिप्राय नहीं अपितु ज्ञान, कर्म तथा उपासना इन तीन तत्त्वों का अभिप्राय है। यतः चारों वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना का निरूपण किया गया है अतः त्रयीविद्या से चारों वेदों का ग्रहण होता है, केवल तीन वेदों का हो यह बात नहीं है। चारों ही वेद त्रयीविद्या के नाम से व्यपदिष्ट होते हैं। महाभारत में उक्त तत्व की पुष्टि मिलती है- **त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमथांगतः। ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषो अथर्वणस्तथा** (शा.प.165) अर्थात्, तीन विद्याओं का अवलोकन करना चाहिए वे तीन विद्या ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व रूप हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि त्रयी विद्या से चारों वेदों का ग्रहण होता है, कारण यदि त्रयी विद्या से तीन वेदों का ही तात्पर्य होता तो उक्त श्लोक में चारों वेदों का नाम न देकर केवल तीन के ही नाम देते।वस्तुतः बात यह है कि जहां जहां त्रयी विद्या या तीन वेदों का नाम आता है वे वेदों की संज्ञा के रूप में नहीं आता अपितु वेदमन्त्रों के प्रकार द्योतनार्थ में आता है। अर्थात्, चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं ऋक्संज्ञक, यजुसंज्ञक, तथा सामसंज्ञक। जिन मन्त्रों में छन्दोबद्ध पादव्यवस्था होती है उनको ऋक् या ऋचा कहते हैं। जो मन्त्र यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड में गाये जाते हैं वे साम और इन दोनों प्रकार के मन्त्रों से जो शेष रहे उनकी यजु संज्ञा है। महर्षि जैमिनि ने अपने सुविख्यात मीमांसा शास्त्र में उक्त तत्त्व का निरूपण निम्न प्रकार से किया है-

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (2/1/35) अर्थात् उन मन्त्रों की ऋक् संज्ञा हैं जिनमें अर्थवशात् पाद व्यवस्था है। तथा **गीतिषु सामाख्या** (2/1/36) अर्थात् जो मन्त्र गीतिका रूप में गाये जाते हैं उनकी साम संज्ञा है।

शेषे यजुः शब्दः (2/1/37) शेष सब मन्त्र यजुः संज्ञक हैं। यतः चारों वेदों में उक्त तीन प्रकार के मन्त्रों का समावेश है। अतः जहां ऋग्, यजुः, साम ये तीन ही नाम आवें, वहां ये मन्त्र-प्रकार-परक ही समझे जाने चाहिए न कि वेद संज्ञापरक। इसलिए वेद तो चार ही हैं किन्तु उनमें मन्त्र ऋग्, यजु, साम, भेद से तीन प्रकार के हैं। इसी तत्त्व की पुष्टि *ऋक्सर्वानुक्रमणी* की वृत्ति की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ने भी की है-

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋक्यजुस्सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

अर्थात् चारों वेदों में यज्ञादि में विनियोक्तव्य मन्त्र ऋग्, यजु, साम रूप से तीन प्रकार के हैं। अतः जहां कहीं त्रयी का प्रयोग हुआ है वह तीन प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से हुआ है न कि वेदों के तीन होने के अभिप्राय से। इसलिए जो पक्ष वेदों का तीन होना स्वीकार करता है वह भी आदरणीय नहीं हो सकता।

तृतीय पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है (संहिता/ग्रन्थ/विषयभेद से वेदचतुष्टय)

वेद संहिता चार हैं। ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व ये चार ही वेद हैं और यही सिद्धान्त पक्ष है। इन चार संहिताओं में निम्न निर्दिष्ट चार विषयों का प्रतिपादन है-

ऋग्वेद संहिता- ज्ञान प्रधान

यजुर्वेद संहिता-कर्मकाण्डप्रधान

सामवेद संहिता-उपासना प्रधान

अथर्ववेद संहिता-विज्ञान प्रधान

इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान, कर्म तथा उपासना भेद से वेद चार हैं जिसका पूर्ण समर्थन वेद की अन्तःसाक्षी से ही होता है। जैसे अथर्ववेद में आया भी है-

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्ष॒न् यजु॒र्यस्मा॑दु॒पाक॑षन्।
सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म्॥ (10/7/20)

अर्थात् जिससे ऋग्वेद बना, जिससे यजुर्वेद प्रकट हुआ एवं सामवेद जिस के रोम रूप हैं तथा अथर्ववेद जिसका मुख रूप है। इस मन्त्र में स्पष्ट चार वेदों का प्रतिपादन है। ऋग्वेद में भी-

तस्मा॑द्य॒ज्ञात् स॑र्व॒हुत॒ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दां॑सि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत; (10/90/9)

अर्थात् सर्वहुत परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए। इस मन्त्र में **छन्दांसि** पद ऋग्,यजु तथा साम के साहचर्य से अथर्ववेद का ही

प्रतिपादक है। जो महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि **छन्दांसि** पद अथर्ववेद का बोधक नहीं है किन्तु उक्त तीनों वेदों में आये हुए गायत्री आदि छन्द विशेष का बोधक है वे भ्रम में हैं। कारण यहां वेद के प्रादुर्भाव का प्रकरण है तद्गत गायत्री आदि छन्दों के प्रतिपादन का नहीं। छन्द शब्द वेद वाचक भी है, स्वनामधन्य पाणिनि मुनि ने भी **बहुलं छन्दसि** आदि अनेक सूत्रों में छन्द शब्द का वेदपरक ही प्रयोग किया है। अतः उक्त मन्त्र में छन्द शब्द का अर्थ गायत्री आदि छन्द नहीं हो सकता। यहां दूसरी एक और बात विचारणीय है। उक्त मन्त्र में **जज्ञिरे** यह क्रिया दो बार आयी है। यदि **ऋचः सामानि छन्दांसि जज्ञिरे** यह अर्थ करें अर्थात् छन्दांसि को **ऋचः सामानि** का विशेषण मान लें तो *जज्ञिरे* केवल एक बार ही पर्याप्त होता। दूसरी बार *जज्ञिरे* इस क्रिया का प्रयोग व्यर्थ हो जाता। अतः *जज्ञिरे* इस दूसरी क्रिया का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि यहां *छन्दांसि* पद को विशेषण मानकर,उसका साधारण गायत्री आदि छन्दःपरक अर्थ न करके विशिष्ट अर्थ अथर्ववेद परक ही लेना यौक्तिक एवं बुद्धिसंगत प्रतीत होता है। इस हेतु से भी यही सिद्ध होता है कि *छन्दांसि* पद यहां पर सुतरां अथर्ववेदवाचक होकर ही प्रयुक्त हुआ है,यह बात निर्विवाद है। इसकी पुष्टि हमें गोपथ ब्राह्मण में भी मिलती है **अथर्वणां-सर्वाणि छन्दांसि** अथर्ववेद में सब छन्द ही हैं।इससे भी अथर्ववेद का नाम छन्दोवेद ही बनता है। स्वयं वेद की भी अन्तःसाक्षी इस विषय में मिलती है कि छन्द शब्द अथर्ववेद वाचक है। जैसे- **यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्** (ऋग्. 9/112/6) अर्थात् जिस यज्ञ में ब्रह्मा पद विभूषित विद्वान् पवित्र छन्दोवेद की वाणी को बोलता है, अर्थात् अथर्ववेद की वाणी को बोलता है। प्रश्न हो सकता है कि यहां *छन्दस्यां* इस पद से अथर्ववेद ही क्यों लेना चाहिए अन्य वेद क्यों न लें? इस का उत्तर कर्मकाण्ड की पद्धति से मिलता है। यह सभी याज्ञिक कर्मकाण्ड विशेषज्ञ जानते हैं कि-**ऋग्वेदेन होता करोति यजुर्वेदेन अध्वर्युः सामवेदेनोद्गाता अथर्ववेदेन ब्रह्मेति।** हमारा अभिप्राय यहां ब्रह्मा से है। जब ब्रह्मा का अथर्ववेद से यज्ञ करने का विधान है तब स्पष्ट ही सिद्ध है कि यहां छन्द पद से अवश्यमेव अथर्ववेद का ही ग्रहण होना चाहिए। अन्यत्र भी संस्कृत साहित्य में छन्द पद, अथर्ववेद के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, देखिए-

ऋचो यजूंषि सामानि, छन्दांस्यथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाःसरहस्याः सविस्तराः। (हरिवंशपुराण)

अर्थात् ऋग्, यजु, साम तथा छन्द नामक अथर्व ये सब चार वेद सरहस्य एवं सविस्तर हैं। उक्त श्लोक में भी **छन्दांस्यथर्वणानि** यह कहा गया है। इससे भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अथर्ववेद का ही नाम छन्दोवेद है, अतः वेद स्वयं वेदचतुष्टयवाद का ही समर्थन करता है। उपनिषदों में भी चार वेदों का ही वर्णन

आया है- **ऋग्वेदो भगवो अध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्** (छा.7.1.2) अर्थात् हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा चौथे अथर्ववेद का अध्ययन करता हूं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वेदों के चार होने की ही साक्षी मिलती है-

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्।
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वांगिरसः॥ (4.2.11)

अर्थात् उस महान् जगदीश्वर का यह निःश्वास (प्रेरणा) स्वरूप है जो ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व के नाम से प्रसिद्ध है। अतः वेद संहिता चार ही हैं यही पक्ष बहु सम्मत है। इसके अतिरिक्त ऋषि मुनियों के लेखों से भी वेदों का चार होना ही सिद्ध होता है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि मुनि अपनी अमरकृति महाभाष्य में लिखते हैं- **केषां शब्दानां? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत् गौरश्वादि। वैदिकाः खल्वपि- शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे, अग्निमीडे पुरोहितम्, अग्न आ याहि वीतये** इति। अर्थात्, किन शब्दों का उपदेश किया है? लौकिक तथा वैदिक दोनों का।लौकिक जैसे गौ, अश्वादि तथा वैदिक शब्दों को बताने के लिए जो प्रतीकें दी हैं वे चारों वेदों के मन्त्रों की ही हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पतंजलि मुनि के मत से भी वेद चार ही हैं।

सायणाचार्य भी अथर्ववेद के **ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयो अग्नयः** (अथर्व.19.9.12) इस मन्त्र में आये हुए वेदाः इस बहुवचनान्त पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं, **वेदाः सांगाश्चत्वारः** अर्थात् वेद सम्पूर्ण चार हैं। इसके अतिरिक्त भी वेद में चार वाणियों का वर्णन मिलता है-

पा॒हि नो॑ अग्न एक॑या पा॒ह्यु॒त द्वि॒तीय॑या।
पा॒हि गी॒र्भिस्ति॒सृभि॑रू॒र्जाम्प॑ते पा॒हि च॑त॒सृभि॑र्वसो॥

(ऋग्वेद 8.60.9)

अर्थात् हे **अग्ने**=ज्ञानस्वरूप अग्रणी परमेश्वर! **नः पाहि** =हमारी रक्षा कीजिए **एकया** एक वाणी से तथा **पाहि द्वितीयया** दूसरी वाणी से हमारी रक्षा कीजिए। **ऊर्जाम्पते** हे शक्तियोंके स्वामी **पाहि तिसृभिः** तीनों वाणियों से हमारी रक्षा कीजिए। वसो=हे सर्वव्यापक प्रभो! **पाहि चतसृभिः** चारों वाणियों से हमारी रक्षा कीजिए। इस मन्त्र में **चतसृभिर्गीर्भिः** यह पद चारों वाणियों का निर्देश करता है। निश्चय से ये चार वाणी चार वेद ही हैं। इसके अतिरिक्त निरुक्तकार भगवान् यास्क मुनि भी वेदों के चार होने के पक्ष में ही हैं-

च॒त्वारि॒ शृंगा॒स्त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे
शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य। (ऋग्. 4.58.3)

इस ऋचा की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, **चत्वारि शृंगा इति वेदा वा एते उक्ताः** (नि. 13.7) अर्थात् यहां शृंग से चारों वेदों का ही तात्पर्य है। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी- **चत्वारि शृंगा वेदा वा एत उक्ताः** (1.34) यहां चार शृंगों से चार वेदों के लिए ही निर्देश किया गया है। अतः वेद चार ही हैं। काठक संहिता में भी चारों वेदों का नाम आता है- **यजुर्भि रायस्पोषे समिषा मदेम** (2.4) **ऋक्सामयोरेवाध्यभिषिच्यते** (37.3) **आशीर्वा अथर्वभिः** (5.4) यहीं तक नहीं लौकिक साहित्य में भी चारों वेदों का नाम दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में स्पष्ट लिखा है- **वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः** (महा.प्रो. अ.51, श्लो.22) अर्थात्, देव लोग प्रसन्न होकर चारों वेदों से यथेष्ट हव्यादि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य के प्रबल प्रमाणों से वेद चार ही हैं। इस पक्ष की इतनी पुष्टि हो जाती है कि इसमें किसी प्रकार की शंका करने का अवकाश ही नहीं रह जाता। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि वेद संहिता चार ही हैं।

कतिपय योरोपीय विद्वानों का जो यह The fourth collection, the Atharvaveda, attained to this position only after a long struggle. Judged both by its language- by that portion of its matter which is analogous to the contents of the Rigveda, theAtharvaveda came into existence considerately later than that Veda (Macdonell) कथन है कि अथर्ववेद की रचना बहुत पीछे की है इसलिए यह वास्तविक रूप से वेद की कोटि में अधिष्ठित नहीं हो सकता इत्यादि कथन भी निराधार एवं निरर्गल होने से आदरास्पद नहीं हो सकता। क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का नाम भी उसी आदर से लिया गया है जितना अन्य वेदों का। महाभारत में **राज्ञश्चाथर्ववेदेन सर्व कर्माणि कारयेत्** (म.भा. शा.प.70. 50)अर्थात्, राजा के सम्पूर्ण कार्यों को आचार्य अथर्ववेद से कराये।

इसी प्रकार अन्यत्र भी बहुत स्थलों में अथर्व का नाम उसी प्रतिष्ठा के साथ आता है जितना अन्य वेदों का, फिर यह कल्पना कर लेना कि अथर्ववेद की रचना बहुत पीछे की है, कोई अर्थ नहीं रखती।

एक अन्य बात से भी वेदों का चार होना ही सिद्ध होता है। उक्त चार वेदों के चार ही उपवेद माने गये हैं। यदि वेद चार न होकर एक अथवा अनेक होते तो उनके उपवेदों की संख्या चार क्यों कर होती? परन्तु निर्णीत रूप से उपवेद भी चार ही माने गये हैं। **ऋग्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है। यजुर्वेद का उपवेद अर्थवेद है।** इस प्रकार चार उपवेदों का होना भी वेदों के चार होने में बडा प्रमाण है।

चतुर्थ पक्ष की आलोचना (औपचारिक)

चतुर्थ पक्ष है कि वेद अनेक हैं। **अनन्ता वै वेदाः** (तै. ब्रा. 3.10.11) वेद अनन्त हैं, इस पक्ष के मानने वालों का यह मत है कि शाखा ग्रन्थ तथा ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सभी वेद कोटि में आते हैं। परन्तु यह गलत है, कारण, वेद की शाखाओं को वेद नहीं माना जा सकता, वास्तव में शाखाएं वेद का भाग नहीं हैं। अपितु वेद व्याख्यान एवं पाठान्तर से वेद विशेष के प्रवचन ही हैं। इसका प्रमाण यह है कि वेद की वर्णानुपूर्वी नियत एवं नित्य है, किन्तु शाखाओं की वर्णानुपूर्वी अनियत एवं अनित्य है। इस बात को सभी वैदिक विद्वान् मानते हैं। इससे शाखा ग्रन्थों में बहुत अधिक पाठ भेद हो गया है और उनमें बहुत करके वर्णानुपूर्वी बदली गई है। उनमें कोई निश्चितक्रम या पाठ नहीं रह गया इतना ही नहीं, कहीं कहीं को प्रवृद्ध तथा क्वचित् न्यून पाठ भी देखा जाता है। इसलिए ऐसी अवस्था में जो लोग यह कहते हैं कि काण्व, मैत्रायणी, कपिष्ठल, बाष्कल, शाकल आदि शाखा भी वेद ही हैं वे ठीक नहीं। कारण, यदि शाखाओं को वेद माना जायेगा तो कोई मर्यादा न रहेगी। वस्तुतः वेद अनेक हैं, यह कहना- वेदों के स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है। वहीं कुछ विद्वान् इस **अनन्ता वै वेदाः** की दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ज्ञान को किसी सीमा में अर्थात् चार पुस्तकों में नहीं बांधा जा सकता। इसका उत्तर देते हुए स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने लिखा है कि यह ठीक है कि ऋग्वेदादि शास्त्र जिनका ऋषियों ने व्याख्यानरूप अनेक शाखाओं में विस्तार किया, वे सर्वज्ञ ब्रह्म के अनन्त ज्ञान का एक अंश ही हैं। वेद को सर्वज्ञानमय कहने का भी अभिप्राय यही है कि वेद में निर्दिष्ट ज्ञान जीव की अपेक्षा से सम्पूर्ण है। ज्ञानी पुरुषों के संसर्ग से अज्ञानी आत्मा का ज्ञान बढता है। परमात्मा द्वारा प्रदत्त वेदरूपी ज्ञान से तथा उसके साक्षात्कार से जीव का विकास होता है। परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण वह परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमेश्वर के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने का न उसमें सामर्थ्य है और न उसे उसकी आवश्यकता है। तथापि अपनी जीवनचर्या के लिए जीव को जितने ज्ञान की आवश्यकता है उसकी अपेक्षा से वेद का ज्ञान पूर्ण है। इस विषय का स्पष्टीकरण यजुर्वेद के इस मन्त्र में किया है-

यावंती द्यावांपृथिवी यावंच्च सप्तसिन्धंवो वितस्थिरे।
तावंन्तमिन्द्र ते ग्रहंमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयिं गृह्णाम्यक्षितम्। (38.26)

इस मन्त्र में आया हुआ **तावन्तम्** पद पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में उनका ज्ञान आत्मा को होता है। भूलोक और द्युलोक में पदार्थों से उसका सम्बन्ध है, अतः उतना ही ज्ञान उसके लिए अपेक्षित था और वह उसे

वेद के रूप में दे दिया। **अनन्ता वै वेदाः** में अनन्त शब्द का प्रयोग औपचारिक भी हो सकता है- **अनन्तसुखिवत्।** वेद शब्द से यहां समस्त वैदिक साहित्य भी अभिप्रेत हो सकता है, क्योंकि इस वचन के कथन के समय तक वेद के व्याख्यान- शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, उपांग, उपवेद, श्रौतगृह्यसूत्रादि के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था और यह प्रवाह अनवरत चालू था। परन्तु वेद संख्या में चार नहीं, अनन्त हैं, **अनन्ता वै वेदाः** का यह अर्थ कभी नहीं किया गया। वास्तव में यह एक बहुत विवादास्पद विषय है जो अपने लिए एक स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा रखता है। इसलिए यहां केवल उक्त संकेत ही पर्याप्त है।

उक्त लेख में निर्दिष्ट युक्ति प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वेद संहिताएं चार ही हैं और यही पक्ष सिद्धान्त पक्ष हो सकता है क्योंकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना एवं विज्ञान काण्ड का प्राधान्य है। ज्ञान के बिना संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता, अतः ऋग्वेद में समस्त पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य का वर्णन करके उनके गुणों का प्रकाश किया है। ज्ञान के पश्चात् कर्ता की कर्म में प्रवृत्ति होती है। परन्तु जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाए तब तक अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। ऋग्वेद द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें उपयोग में लाने का विधान यजुर्वेद में मिलता है। ज्ञान और कर्म का पर्यवसान उपासना में होता है। चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुख करके और प्राणों को अन्तर्जीवन की ओर प्रवृत्त करके उपासना के योग्य बनाने के साधनोपायों का विधान सामवेद में है। तथा उक्त तीनों वेदों में जो विद्याएं हैं उन सबके शेष भाग की पूर्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय-निवृत्ति के लिए अथर्ववेद है। इति

-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (1-15) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

आयुर्वेदिक निघण्टुओं का स्वरूप व परम्परा

करुणा*

आयुर्वेद क्या है?

'आयुषो वेद आयुर्वेदः' अर्थात् आयुसम्बन्धी वेद आयुर्वेद है। आयुर्वेद शब्द दो पदों से मिलकर बना है- आयुष्+वेद। आयु क्या है? इस विषय में चरक संहिता, सूत्रस्थान में कहा गया है- शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग आयुः (1.42)[1] अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा के संयोग को 'आयु' कहते हैं अथवा चेतनानुवृत्तिः आयुः (30.22)[1] अर्थात् चेतना की अनुवृत्ति (गर्भ से मरणपर्यन्त चेतना का रहना) 'आयु' है। 'वेद' शब्द भी चार धातुओं से निष्पन्न होता है- विद सत्तायाम् (दिवादिगणः-60)[2], विद ज्ञाने (अदादिगणः-57)[2], विद्लृ लाभे (तुदादिगणः-141)[2] तथा विद विचारणे (रुधादिगणः-13)[2]; जिनका क्रमशः अर्थ है- सत्ता, ज्ञान, प्राप्ति एवं विचार। इस प्रकार जिसमें आयु है, जिससे आयु जानी जाती है, जिससे आयु की प्राप्ति होती है तथा जिसके द्वारा आयु का विचार किया जाता है, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं। आचार्य चरक आयुर्वेद की परिभाषा इस प्रकार करते हैं-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (च.सं.सू.1.41)[1]

अर्थात् हितायु, अहितायु, सुखायु व दुःखायु तथा आयु के लिए हिताहित द्रव्य, आयु का मान एवं उसके लक्षणों का वर्णन करने वाला शास्त्र 'आयुर्वेद' कहलाता है।

वस्तुतः आयुर्वेद का ज्ञान सार्वभौमिक है तथा सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिए समान रूप से उपादेय है। उचित आहार-विहार के द्वारा स्वस्थ रहते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त करना तथा रोगी होने पर उचित पथ्याहार एवं औषधोपचार से रोगमुक्त होना आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजन हैं-

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।

(च.सं.सू.30.26)[1]

* पतञ्जलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं च।

(सु.सं.सू.1.14)।[3]

मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) है, जिसका मूल साधन 'आरोग्य' है। अतः आरोग्यप्राप्ति के लिये आयुर्वेद के उपदेशों में विशेष आदर रखने की बात कही गई है-

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥ (अ.हृ.सू.1.2)[4]

आयुर्वेदशास्त्र के अध्ययन की अपरिहार्यता के सन्दर्भ में काश्यप ऋषि कहते हैं कि ब्राह्मणों को विषयबोध, पुण्यार्जन तथा अपने व लोक के कल्याण के लिए, क्षत्रियों को प्रजासंरक्षण के लिए, वैश्यों को आजीविका के लिए, शूद्रों को सेवा के लिए तथा सब वर्णों को धर्म के लिए आयुर्वेद का अध्ययन अवश्य करना चाहिए- (का.सं.वि.-1.10)।[5]

आयुर्वेद का ज्ञान प्राचीनकाल से ही श्रुति-परम्परा के द्वारा निरन्तर आगे बढ़ा है, किन्तु समय की आवश्यकतानुसार इसे ग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया गया। ज्ञान के आदिम स्रोत वेदों में भी आयुर्वेदसम्बन्धी तथ्य बहुलतया उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो आयुर्वेद को पञ्चम वेद तक कह दिया गया है, इससे इसकी महत्ता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। न केवल वेदों में ही अपितु परवर्ती ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि में भी हमें आयुर्वेदीय तत्त्वों के दर्शन होते हैं।

आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में निघण्टु क्या है?

प्राचीन काल से ही भावाभिव्यक्ति के लिए एक अर्थ में अनेक शब्दों व अनेक अर्थों में एक शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। अतः किसी भी भाषा के समृद्ध ज्ञान के लिए शब्दकोश का अध्ययन आवश्यक है। संस्कृत भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसकी नानाविध शाखाओं में शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। प्रत्येक शाखा की विशिष्ट एवं सुव्यवस्थित शब्दावली भी है। संस्कृत वाङ्मय में आयुर्वेद एक ऐसा विषय है जो अति प्राचीनकाल से स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रचलित रहा है (च.सं. सू.30.27)।[1] इसकी परम्परा बहुत व्यावहारिक एवं समृद्ध रही है। आयुर्वेद का वाङ्मय भी बहुत विशाल है (च.सं.वि.8.14)।[1] इसमें शब्दप्रयोग का क्षेत्र अति विस्तृत है। अतः प्राचीन काल से ही आयुर्वेदीय शब्दावली को समझने के लिए शब्दकोषों की रचना की जाती रही है। ये शब्दकोश वैदिक शब्दकोशों का अनुसरण करते हुए निघण्टु नाम से प्रसिद्ध हैं।

निघण्टु पद की व्युत्पत्ति

'निघण्टु' शब्द मूलतः उन वैदिक शब्दकोषों के लिए प्रचलित रहा है जिनमें वेदों के विशिष्ट शब्दों का संग्रह किया जाता था। आचार्य यास्क ने निघण्टु पद की व्याख्या इस प्रकार की है।

तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।
निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति।

छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः।

(नि.भा.यास्कभूमिका. पृ.1)[6]

अर्थात् इस संग्रह (वैदिककोष) को 'निघण्टु' नाम से पुकारते हैं। इसे निघण्टु क्यों कहा जाता है? क्योंकि इसमें वेदमन्त्रों के ज्ञापक शब्दों का संग्रह रहता है तथा ये शब्द वेदों से चुन-चुन कर संग्रहीत किए जाते हैं। अर्थात् जहाँ निहित अर्थ के ज्ञापक पदों को एकत्र कर एक साथ पढ़ा जाता है अथवा संकलित किया जाता है, वह संग्रहग्रन्थ निघण्टु कहा जाता है।

वाचस्पत्यम् में भी निघण्टु शब्द को इसी प्रकार स्पष्ट किया है-

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संग्रहो यत्र प्रायेण
उपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। (वाच.)[8]

अर्थात् जहाँ प्रायः एक ही अर्थ के वाचक पर्याय शब्दों का संग्रह होता है, उसे 'निघण्टु' कहते हैं।

(आचार्य व्याडि ने निघण्टु शब्द को पुल्लिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग में माना है- निघण्टयत्यस्मान्निघण्टुः परिकीर्तितः। पु-नपुंसकयोः स स्यात् इति। निघण्टु शब्द अकारान्त (निघण्ट) भी होता है। जैसे चामुण्ड पण्डित ने कहा है-

इति वर्णनिघण्टोऽयं बीजानां वच्मि किञ्चन

(नि.शे.टी.श्लोक-1, पृ. 4)।)[9]

इस प्रकार आयुर्वेद की परम्परा में भी जिस ग्रन्थ में मुख्यतः ओषधियों के नाम एवं पर्यायों का संग्रह है तथा साथ में गुण एवं विभिन्न रोगों में उनकी उपयोगिता आदि का वर्णन है, उसे 'निघण्टु' कहा गया है।

निघण्टुओं की आवश्यकता व महत्त्व

आयुर्वेदीय ज्ञान के अनन्त होने से सम्पूर्ण आयुर्वेद को जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। उपलब्ध आयुर्वेदीय शास्त्रों में व्यवहृत औषधियों की संख्या भी बहुत है जोकि

बिखरी हुई अवस्था में है। अतः संहिताओं में प्रयुक्त औषधद्रव्यों के व्यवस्थित ज्ञान के लिये उन्हें निघण्टुओं में निबद्ध किया गया है। वस्तुतः संहिताओं में गणों व वर्गों में ही औषधियों के गुणों का वर्णन प्राप्त होता है, यत्र-कुत्रचित् कतिपय द्रव्यों का पृथक्-पृथक् वर्णन प्राप्त होता है किन्तु वह अत्यल्प है। निघण्टुओं में उन्हीं संहितागत द्रव्यों का विशद वर्णन किया गया है। एतदर्थ प्रत्येक वैद्य के लिये निघण्टु का अध्ययन अपरिहार्य माना गया है। धन्वन्तरिकार निघण्टुओं की आवश्यकता के सन्दर्भ में कहते हैं-

अनामविन्मोहमुपैति वैद्यो न वेत्ति पश्यन्नपि भेषजानि।
क्रियाक्रमो भेषजमूल एव तद्भेषजं चापि निघण्टुमूलम्॥

(ध.नि.भू.13)[10]

अर्थात् बिना नामों को जाने वैद्य सन्देहग्रस्त हो जाता है तथा औषध को देखते हुए भी पहचान नहीं पाता। चिकित्सा औषध पर ही निर्भर करती है तथा औषध के ज्ञान का मूल स्रोत 'निघण्टु' है। उनका मानना है कि एक ही नाम से अनेक द्रव्य जाने जाते हैं, वहीं एक द्रव्य के भी अनेक नाम होते हैं। इसका आधार द्रव्यों की जाति, आकृति (स्वरूप), वर्ण, वीर्य, रस व प्रभाव आदि गुण हैं (ध.नि.प्र.-9)। अतः इन नामों का उचित बोध निघण्टुओं से ही सम्भव है।

निघण्टुओं के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए माधवकर कहते हैं।

किं करोति नरः शूरः समरे शस्त्रवर्जितः।
तद्वत् पर्यायरहितश्चिकित्सायां चिकित्सकः॥ (प.र.-4)[11]

अर्थात् जिस प्रकार शूर व्यक्ति भी शस्त्ररहित होने पर युद्ध में कुछ नहीं कर सकता है, उसी प्रकार पर्यायज्ञान (ओषधिनाम-बोध) से रहित वैद्य चिकित्साक्षेत्र में कुछ नहीं सकता है, अतः वैद्य के लिए निघण्टुज्ञान परमावश्यक है।

राजनिघण्टुकार नरहरि पण्डित भी निघण्टु ज्ञान के अभाव में वैद्य को उपहास का पात्र मानते हैं तथा उसकी स्थिति व्याकरण से अनभिज्ञ विद्वान् तथा अभ्यासरहित धनुर्धर के सदृश बताते हैं।

निघण्टुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना।
अनभ्यासेन धानुष्कस्त्रयो हास्यस्य भाजनम्॥[12] (रा.नि.प्र.-9)

वस्तुतः इन निघण्टुओं में द्रव्यों के भिन्न-भिन्न आधारों यथा- गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, बाह्यस्वरूप, लक्षण, रूढ़ि, उपमा तथा देश भेद से रखे गये नामों का संग्रह प्राप्त होता है (रा.नि.प्र.-13)।[12] उन नामों के ज्ञान से औषध का वास्तविक स्वरूप स्वतः प्रकट हो जाता है, इसलिए आयुर्वेदज्ञ विद्वान् के लिए निघण्टुगत नामों

का ज्ञान अति आवश्यक बताया गया है। धन्वन्तरि निघण्टु में कहा गया है कि सभी व्यक्ति औषध-पादपों को भिन्न-भिन्न स्थानीय नामों से जानते हैं, अत: वैद्यों को अनेक प्राकृत तथा संस्कृत नामों को जानकर और अनेक लोगों से पूछकर, देखकर, अच्छी तरह स्पर्श कर तथा जातिगत चिह्नों से आदरपूर्वक औषध को जानना चाहिए (ध.नि. भू.-10.12)।[10]

इस प्रकार निघण्टु चिकित्साकर्म में औषधद्रव्य की सही पहचान कराने हेतु अति सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिए आयुर्वेद वाङ्मय में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

निघण्टुओं का कालनिर्धारण

संस्कृतसाहित्य में कोशसृजन की परम्परा लगभग ढाई हजार वर्षों से अव्याहत गति से चली आ रही है। इस अवधि में नाना प्रकार के कोशों यथा निघण्टु, समानार्थककोश, नानार्थककोश, एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षरादि कोशों की रचना हुई है, जिनमें से कुछ लुप्त हो गये, कुछ अप्रकाशित हैं तथा कुछ हस्तलिखित मातृकाओं (manuscripts) के रूप में विभिन्न ग्रन्थागारों अथवा पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। तथापि शताधिक कोशग्रन्थ प्रकाशितरूप में हमारे सम्मुख है जो संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाते हैं। आयुर्वेद जगत् में भी संहिताग्रन्थों के पूरक तथा भैषज्यविज्ञान से सम्बन्धित शताधिक निघण्टुग्रन्थों की रचना हुई है। आयुर्वेदज्ञों ने इन निघण्टुओं को तीन कालों में विभक्त किया है-

1. **प्राचीन काल**- 7 वीं शती पर्यन्त
2. **मध्यकाल**- 8 वीं शती से 15 वीं शती पर्यन्त
3. **आधुनिक काल**- 16 वीं शती से अब तक

वर्तमान में उपलब्ध व अनुपलब्ध आयुर्वेदिक निघण्टु?

उपलब्ध निघण्टुग्रन्थ-

1. अभिधानमञ्जरी
2. अभिधानरत्नमाला
3. अभिनवनिघण्टु
4. अष्टाङ्गनिघण्टु
5. आमचीनिघण्टु
6. आयुर्वेदचिन्तामणि
7. आयुर्वेदसौख्यम्
8. आयु. औषधिनिघण्टु
9. कैय्यदेवनिघण्टु
10. गुणरत्नमाला
11. चन्द्रनिघण्टु
12. चमत्कारनिघण्टु
13. द्रव्यगुणकोश
14. द्रव्यगुणशतश्लोकी

15. द्रव्यगुणसंग्रह
16. द्रव्यनामाकर
17. द्रव्यरत्नाकर
18. धन्वन्तरिनिघण्टु
19. निघण्टरत्नाकर
20. निघण्टशिरोमणि
21. निघण्टु आदर्श
22. निघण्टुशेष
23. पर्यायमुक्तावली
24. पर्यायरत्नमाला
25. प्रियनिघण्टु
26. बेदी वनस्पतिकोष
27. भावप्रकाशनिघण्टु
28. मदनपालनिघण्टु
29. मदनादिनिघण्टु
30. महौषधनिघण्टु
31. माधवद्रव्यगुण
32. रसवैशेषिक
33. राजनिघण्टु
34. राजवल्लभनिघण्टु
35. रूपनिघण्टु
36. लघुनिघण्टु
37. वनौषधिचन्द्रोदय
38. वनौषधिदर्पण
39. वैद्यकशब्दसिन्धु
40. वैद्यावतंस
41. शंकरनिघण्टु
42. शतश्लोकी
43. शब्दचन्द्रिका
44. शालिग्रामनिघण्टु
45. शालिग्रामौषधशब्दसागर
46. शिवकोष
47. सरस्वतीनिघण्टु
48. सिद्धभेषजमणिमाला
49. सिद्धमन्त्र
50. सिद्धसारनिघण्टु
51. सुषेणनिघण्टु
52. सोढलनिघण्टु
53. सौमित्रेयमहोदधिनिघण्टु
54. सौश्रुतनिघण्टु
55. हरमेखलानिघण्टु
56. हिक्मत्प्रकाश
57. हृदयदीपकनिघण्टु

अनुपलब्ध निघण्टुग्रन्थ-

1. अनेकार्थकोष
2. अभिधानचन्द्रिका
3. अरुणदत्तनिघण्टु
4. आयुर्वेदचन्द्रिका
5. आयुर्वेदशब्दार्णव
6. आ.द्रव्याभिधान
7. इन्दुनिघण्टु
8. औषधनामावली

9. औषधनिघण्टु
10. औषधालंकार
11. औषधिनामावली
12. कल्पद्रुकोष
13. चूडामणिनिघण्टु
14. दक्षिणामूर्ति निघण्टु
15. द्रव्यार्थचन्द्रिका
16. धनञ्जयनिघण्टु
17. नामसंग्रहनिघण्टु
18. नामसागर
19. निघण्टु
20. निघण्टुप्रकाश
21. निघण्टुसंग्रह
22. निघण्टुसार
23. निघण्टुसार
24. निघण्टुसारसंग्रह
25. निमिनिघण्टु
26. निर्णयनिघण्टु
27. पञ्चाशननिघण्टुसार
28. पर्यायमञ्जरी
29. पर्यायमञ्जरी
30. पर्यायार्णव
31. पूज्यपादनिघण्टु
32. बालपर्यायमञ्जरी
33. भैषज्यसारनिघण्टु
34. भोजराजनिघण्टु
35. रत्नप्रदीपनिघण्टु
36. रत्नमालाध्याय
37. रसमूलिकानिघण्टु
38. राजेन्द्रकोष
39. वनवासनिघण्टुव
40. वर्णनिघण्टु
41. वामननिघण्टु
42. वाष्पचन्द्रनिघण्टु
43. वासुदेवनिघण्टु
44. वैद्यककोष (वैद्यकोष)
45. वैद्यनिघण्टुसार
46. शब्दमाला
47. शाकनिघण्टु
48. शेषराजनिघण्टु
49. शेषसंग्रहनाममाला
50. सर्वौषधिपदार्थदर्पण
51. सिद्धौषधनिघण्ट

निघण्टुओं की रचनाशैली

जिस प्रकार वेदगत पदों के पर्यायवाची शब्दों के संग्रह को 'वैदिक निघण्टु' नाम से जाना जाता है, इसी प्रकार आयुर्वेदीय संहितागत द्रव्यों के पर्यायवाची शब्दों के संग्रह को भी 'निघण्टु' नाम से जाना जाता है। वैदिक निघण्टु का स्वरूप आयुर्वेदीय निघण्टुओं से किञ्चित् भिन्न है। यह छन्दोबद्ध नहीं है। इसमें पर्यायरूप में शब्दों का परिगणन है, तद्यथा–

गौ। ग्मा। ज्मा। क्ष्मा। क्षा। क्षमा। क्षोणी। क्षितिः। अवनिः। उर्वी। पृथ्वी।

(नि.भा.वै.नि.1)[6]

लेकिन शब्द संग्रह की यही परम्परा अविच्छिन्न रूप से जैसे-जैसे आगे बढ़ी है, वैसे ही इसके स्वरूप में कुछ-कुछ परिवर्तन होता गया है अर्थात् वैदिक काल में जहाँ मात्र शब्दसंग्रहपरक निघण्टुरचना हुई वहीं आयुर्वेदीय संहिता काल में छन्दोबद्ध निघण्टुरचना की जाने लगी। 'अमरकोष' के अन्तर्गत **वनौषधि वर्ग** निघण्टुओं के प्राचीन छन्दोबद्धरूप का दिग्दर्शन कराता है। इसमें औषधियों के पर्यायों का ही संग्रह है, गुणवर्णन शैली इसमें दिखाई नहीं देती है, तद्यथा- बोधिद्रुमश्चलदलः पिप्पलः कुञ्जराशनः। (अ.को.वनौषधिवर्ग. 20)[13] किन्तु आयुर्वेदीय धन्वन्तरिनिघण्टु, राजनिघण्टु, मदनपालनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा कैय्यदेवनिघण्टु आदि अनेक ऐसे निघण्टु हैं, जिनमें पर्यायों के साथ-साथ गुणों का भी वर्णन मिलता है-

बिल्वः शलाटुः शैलूषो मालूरश्च सदाफलः।
लक्ष्मीफलो गन्धगर्भः शाण्डिल्यः कण्टकी मतः॥

बिल्वं ग्राहि कषायोष्णं कटु दीपनपाचनम्।
हृद्यं बालं लघु स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम्॥

(म.नि. गुडूच्यादिवर्ग. 42, 43)[14]

इस प्रकार आयुर्वेदिक निघण्टु मुख्यतः द्रव्यनामसंग्रहात्मक एवं द्रव्यगुणवर्णनात्मक ग्रन्थ हैं। कुछ निघण्टुओं में द्रव्य के नाम एवं गुण के अतिरिक्त आवश्यक आयुर्वेदीय पारिभाषिक शब्दावली का भी संग्रह है। इस प्रकार आयुर्वेद साहित्य को सुगम व सर्वजनबोध्य बनाने में निघण्टुओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। निघण्टु साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण आकर ग्रन्थ हैं। वैदिकनिघण्टु को छोड़कर प्राचीन काल से ही निघण्टुओं की रचना छन्दोबद्धरूप में ही होती रही है। अधिशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकतर अनुष्टुप् छन्द का ही प्रचलन रहा है। निघण्टुग्रन्थों में भी ऐसा ही देखा गया है। धन्वन्तरि निघण्टु से लेकर परवर्ती निघण्टुओं में भी यही देखने में आया है। इनमें भी अधिकांश अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग है। बीच-बीच में अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। छन्दोयोजना की दृष्टि से द्रव्यगुणशतश्लोकी, राजनिघण्टु, हिक्मत्प्रकाश, भावप्रकाश, द्रव्यरत्नाकर, सिद्धभेषजमणिमाला, प्रियनिघण्टु आदि अधिक विविधतापूर्ण हैं। इनमें अनुष्टुप् छन्द के साथ-साथ आर्या, प्रमाणिका, शुद्धविराड्, उपचित्रा, मात्रासमक, वैश्वदेवी, वियोगिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, इन्द्रवंशा, वंशस्था, शालिनी, वातोर्मी, रथोद्धता, स्वागता, भुजङ्गप्रयात, स्रग्विणी, तोटक, द्रुतविलम्बित, पञ्चचामर, पृथ्वी, मालिनी, वसन्ततिलका, प्रहर्षिणी, पुष्पिताग्रा, हरिणी, मंजुलभाषिणी, शिखरिणी,

पञ्चचामर, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता इत्यादि छन्दों का सुन्दर समायोजन हुआ है। आयुर्वेदीय निघण्टु में अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग है। निघण्टुगत बहुत से द्रव्यों के नाम उपमा पर आधारित है। इसके अतिरिक्त रूपक, यमक व अनुप्रास का भी स्पष्ट प्रयोग देखा जा सकता है।

निघण्टुओं की रचना का आधार

आयुर्वेदीय निघण्टुग्रन्थों में कुछ निघण्टु पूर्वसंहिताओं पर आधारित हैं, कुछ स्वतन्त्ररूप से रचे गये हैं तथा कुछ को पूर्ववर्ती निघण्टुओं के आधार पर लिखा गया है। इस प्रकार विषयवस्तु को देखते हुए इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

1. आयुर्वेदीय संहितागत गणों पर आधारित निघण्टु-

इसके अन्तर्गत वे निघण्टु आते हैं जो चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय आदि संहिताग्रन्थों के अध्यायविशेष अथवा अध्यायगत गणों को आधार बनाकर रचे गये हैं। तद्यथा 'सौश्रुतनिघण्टु' सुश्रुतसंहिता पर आधारित है। इसमें सूत्रस्थान के 38वें द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय के विदारिगन्धादि गण से लेकर तृणपंचमूलपर्यन्त पठित द्रव्यों का वर्णन किया गया है (सौ.नि.प्र.12)।[15] आचार्य वाहट विरचित 'अष्टाङ्गनिघण्टु' अष्टाङ्गहृदय के सूत्रस्थानगत अध्याय 15 तथा अष्टाङ्गसंग्रह के सूत्रस्थानगत अध्याय 16 को आधार बनाकर रचा गया है (अ.नि.1.1)।[16] आचार्य रविगुप्त ने सिद्धसार संहिता के उत्तरभाग में सिद्धसारनिघण्टु को रचा है। यह सिद्धसारसंहिता के द्वितीय अध्यायगत स्थिरादिगणों पर आधारित है (सि.नि.श्लोक-1 पृ. 364)।[17] माधुकविरचित हरमेखला ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद के अन्त में हरमेखलानिघण्टु पठित है। इसमें हरमेखलागत गूढद्रव्यों के पर्यायों पर प्रकाश डाला गया है (हर.पृ.454)।[18] चन्द्रनन्दन विरचित 'चन्द्रनिघण्टु' जोकि 'मदनादिनिघण्टु' के नाम से भी विख्यात है, इसे अष्टाङ्गहृदय (सूत्रस्थान, अध्याय. 15) में वर्णित मदनादिगणों के विवरण एवं विभिन्न ग्रन्थों में बिखरी हुई सामग्री को आधार बनाकर रचा गया है (च.नि.पू.2)।[19] नारायण भिषगार्य ने 'अभिधानमञ्जरी' को अष्टाङ्गहृदय के सूत्रस्थानगत 15वें अध्याय के शोधनादिगण, छठे अन्नस्वरूपविज्ञानीयाध्याय तथा 5वें द्रवद्रव्यविज्ञानीयाध्याय को आधार बनाकर रचा है (अ.मं.प्र.-पृ.2)।[20] आचार्य चक्रपाणि ने स्वकीय ग्रन्थ 'द्रव्यगुणसंग्रह' की रचना चरक, सुश्रुत आदि तन्त्रग्रन्थों को आधार बनाकर की है (द्र.गु.सं. 15.45)।[21] बोपदेव ने 'हृदयदीपकनिघण्टु' को अष्टाङ्गहृदयगत औषधद्रव्यों को आधार बनाकर रचा है इसीलिए इसे हृदयदीपक कहा जाता है।

2. स्वतन्त्ररूप से विरचित निघण्टु-

आयुर्वेद में ऐसे निघण्टुओं की शृंखला बहुत लम्बी है, जिनमें औषधद्रव्यों का मौलिक वर्णन हुआ है तथा उन्हें स्वतन्त्ररूप से विविध वर्गों में विभाजित किया गया है तद्यथा- पर्यायरत्नमाला, धन्वन्तरिनिघण्टु, चमत्कारनिघण्टु, निघण्टुशेष, शब्दचन्द्रिका, अभिधानरत्नमाला, माधवद्रव्यगुण, मदनपालनिघण्टु, सुषेणनिघण्टु (आयुर्वेदमहोदधि), राजनिघण्टु, कैय्यदेवनिघण्टु, द्रव्यनामाकर, द्रव्यरत्नाकर, सरस्वतीनिघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु, गुणरत्नमाला, लघुनिघण्टु, राजवल्लभनिघण्टु इत्यादि।

3. पूर्वरचित निघण्टुओं पर आधारित निघण्टु-

इस श्रेणी में वे निघण्टु आते हैं जिन्हें पूर्ववर्ती निघण्टुओं को आधार बनाकर रचा गया है, तद्यथा- आचार्य सोढल ने धन्वन्तरिनिघण्टु को आधार बनाकर सोढलनिघण्टु की रचना की है (सो.नि.नाम. 6.7)।[22] हरिचरणसेन ने माधवकरविरचित 'पर्यायरत्नमाला' को आधार बनाकर पर्यायमुक्तावली की रचना की है (प.मु. मंगलाचरण. 3)।[23]

वैद्य राघव ने स्वकीय ग्रन्थ 'निघण्टशिरोमणि' को पूर्ववर्ती प्रसिद्ध निघण्टुओं को आधार बनाकर रचा है। इसमें सर्वाधिक राजनिघण्टु का अनुकरण किया गया है। साथ ही धन्वन्तरिनिघण्टु, कैय्यदेवनिघण्टु, भावप्रकाशनिघण्टु आदि निघण्टुओं का भी सहयोग लिया गया है। इसके अतिरिक्त दत्तराम चौबे कृत 'अभिनवनिघण्टु' तथा बलदेवप्रसाद मिश्र विरचित 'आयुर्वेदचिन्तामणि' पूर्णतया भावप्रकाशनिघण्टु को आधार बनाकर लिखे गये हैं।

निघण्टुओं की विषयवस्तु

आयुर्वेदीय निघण्टुओं में पादपद्रव्य, जान्तवद्रव्य, आहारद्रव्य एवं कल्पनाएं तथा योगज औषधियां आदि चिकित्सोपयोगी सामग्री का संग्रह होता है। प्रारम्भ में इनके अन्तर्गत केवल द्रव्य पर्यायों का ही उल्लेख होता था जोकि भिन्न-भिन्न आधारों यथा गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, बाह्यस्वरूप, लक्षण, रूढ़ि, उपमा तथा देशभेद के आधार पर रखे जाते थे (रा.नि.प्र.-13)।[12] कालान्तर में इनके अन्तर्गत द्रव्यों के गुणों एवं आमयिक प्रयोगों का वर्णन भी किया जाने लगा। अतः इनमें द्रव्यों के पर्यायों के साथ-साथ गुण एवं तत्सम्बन्धी परिभाषाओं का भी उल्लेख मिलता है। विषयवस्तु के आधार पर निघण्टुओं को 6 भागों में बाँटा जा सकता हैं-

1. नामसंग्रहपरक निघण्टु-

इसके अन्तर्गत उन निघण्टुओं का समावेश है जो छन्दोबद्ध रूप में केवल

द्रव्यों के नामों का उल्लेख करते हैं। इनमें भी कुछ निघण्टुओं में संहिताग्रन्थों के समान गणरूप में गुणों का कथन किया गया है जो इस प्रकार हैं- सौश्रुतनिघण्टु, हरमेखला, सिद्धसारनिघण्टु, पर्यायरत्नमाला, अभिधानमञ्जरी, चमत्कारनिघण्टु, निघण्टुशेष, शब्दचन्द्रिका, अभिधानरत्नमाला, हृदयदीपकनिघण्टु, द्रव्यनामाकर, सरस्वतीनिघण्टु, पर्यायमुक्तावली, पर्यायमञ्जरी (नागदेव), पर्यायमञ्जरी (श्रीकण्ठनन्दन), पर्यायार्णव, बालपर्यायमञ्जरी तथा वनवासवनिघण्टु।

2. नामगुणसंग्रहपरक निघण्टु-

जिन निघण्टुओं में द्रव्यों के नामों के साथ-साथ गुणों का भी संग्रह किया गया है, उन्हें इस वर्ग में रखा गया है। इस वर्ग में अधिकाशतः प्रसिद्ध निघण्टु आते हैं- चन्द्रनिघण्टु (मदनादिनिघण्टु), धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु, मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु, कैय्यदेवनिघण्टु, द्रव्यरत्नाकर, भावप्रकाशनिघण्टु, आयुर्वेद सौख्यम्, लघुनिघण्टु, निघण्टशिरोमणि, अभिनवनिघण्टु, शालिग्रामनिघण्टु, आयुर्वेदचिन्तामणि, महौषधनिघण्टु, प्रियनिघण्टु।

3. गुणसंग्रहपरक निघण्टु-

जिन निघण्टुओं में केवल द्रव्यों के गुणों का वर्णन हुआ है, उन्हें इस वर्ग में रखा गया है, तद्यथा- द्रव्यगुणसंग्रह, माधवद्रव्यगुण, सिद्धमन्त्र, वैद्यावतंस, द्रव्यगुणशतश्लोकी, चूडामणिनिघण्टु, राजवल्लभ (राजवल्लभीय द्रव्यगुण), हिक्मतप्रकाश, निघण्टरत्नाकर, द्रव्यगुणकोष, रत्नप्रदीपनिघण्टु (शब्दरत्नप्रदीप)।

4. नानार्थक निघण्टु-

इन निघण्टुओं में केवल नानार्थक पदों का संग्रह रहता है। यद्यपि आयुर्वेद के कुछ निघण्टुओं यथा- धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु, राजनिघण्टु व भावप्रकाश आदि के अन्त में भी अनेकार्थसंग्रहनामक वर्ग विद्यमान हैं जिनके अन्तर्गत वे नाम संग्रहीत हैं जो एक ही द्रव्य अथवा बहुत-से द्रव्यों का बोध कराते हैं। लेकिन कुछ निघण्टु स्वतन्त्ररूप से केवल अनेकार्थ पदों (homonyms) को लेकर रचे गये हैं तद्यथा- द्रव्यनामाकर एवं शिवकोष।

5. आयुर्वेदीय शब्दकोष-

वस्तुतः उपरोक्त वर्गों में छन्दोबद्ध शैली में पर्यायों व गुणों का वर्णन करने वाले निघण्टुग्रन्थ आते हैं। आयुर्वेदज्ञों ने अकारादिक्रम में आयुर्वेदीय शब्दावली को

स्पष्ट करने वाले कोषों को भी निघण्टुओं के अन्तर्गत परिगणित किया है, जो इस प्रकार हैं- अनेकार्थकोष, कल्पद्रुकोष, वैद्यकशब्दसिन्धु, आयुर्वेद शब्दार्णव, शालिग्रामौषध-शब्दसागर, आयुर्वेदचन्द्रिका, सर्वौषधिपदार्थदर्पण, औषधनिघण्टु, अभिधानचन्द्रिका।

6. नाना भाषाश्रित नामों तथा गुणकर्म के प्रतिपादक व्याख्यात्मक निघण्टु-

अर्वाचीनकाल में ऐसे बहुत-से निघण्टुओं का संकलन किया गया है, जो हिन्दी भाषा में रचे गये हैं तथा उनमें द्रव्यों के हिन्दी, संस्कृत, मराठी, तेलगू, कन्नड, मलयाली, बंगाली, नेपाली आदि नानाभाषाओं के नामों का संग्रह है। इनमें द्रव्यों के स्वरूप, गुणकर्म, आमयिक प्रयोग, रासायनिक संगठन तथा योगजकर्मों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं- आयुर्वेदीय औषधनिघण्टु, निघण्टु आदर्श, रूपनिघण्टु, शंकरनिघण्टु, वनौषधिदर्पण (बिरजाचरण गुप्त), वनस्पतिशास्त्र, वनौषधिचन्द्रोदय, बेदीवनस्पतिकोष, वनौषधिदर्पण (अजय कुमार) आदि।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण के आधार पर सुस्पष्ट है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा में निघण्टुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। धन्वन्तरिकार कहते हैं- **क्रियाक्रमो भेषजमूल एव तद्भेषजं चापि निघण्टुमूलम्** अर्थात् चिकित्सा 'औषध' पर ही निर्भर करती है तथा औषध के ज्ञान का मूल स्रोत 'निघण्टु' है। इसका मूल कारण निघण्टुग्रन्थों में आयुर्वेदीय द्रव्यों की विस्तृत विवेचना है। निघण्टुओं में द्रव्यों के गुण एवं आमयिक प्रयोगों का वर्णन मिलता है, जिससे आयुर्वेदीय चिकित्सा सम्पोषित होती है। आयुर्वेदीय निघण्टु मात्र चिकित्सा के प्रतिनिधि ग्रन्थ ही नहीं अपितु संस्कृतसाहित्य के महत्त्वपूर्ण कोशग्रन्थ भी हैं। इनका अपना ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व है। इनकी रचनाशैली अति विशिष्ट है। निघण्टुकारों ने अपनी काव्यप्रतिभा के साथ चिकित्सासम्बन्धी विषयवस्तु का सुन्दर समन्वय किया है। इनकी छन्दोयोजना एवं अलंकारविच्छिति किसी भी काव्यकार के लिए प्रेरणास्रोत है। लेकिन दुर्भाग्यवश आयुर्वेदीय निघण्टुओं के पठन-पाठन की परम्परा के शिथिल पड़ने के कारण बहुत-से निघण्टु विलुप्त हो गये हैं, कुछ अप्रकाशित हैं तथा कुछ का भाषानुवाद न होने के कारण उनमें निहित ज्ञानराशि सम्मुख नहीं आ सकी है। निघण्टुवाङ्मय के क्षेत्र में किया गया शोध एवं सम्पादन अत्यल्प है अथवा नगण्य है, एतदर्थ आयुर्वेदीय चिकित्सा एवं आयुर्वेद वाङ्मय की महत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इस क्षेत्र में अनुसंधान एवं अनुशीलन की महती आवश्यकता है।

संक्षिप्ताक्षर-सूची

अ.को.	–	अमरकोष
अ.मं.प्र.	–	अभिधानमंजरी, प्रस्तावना
अ.ह्.सू.	–	अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान
अ.नि.	–	अष्टाङ्गनिघण्टु
उणादि.	–	उणादिकोषः
का.सं.वि.	–	काश्यपसहिंता, विमानस्थान
च.सं.सू.	–	चरकसहिंता, सूत्रस्थान
च.सं.वि.	–	चरकसहिंता, विमानस्थान
च.नि.पू.	–	चन्द्रनिघण्टु, पूर्वभाग
द्र.गु.सं.	–	द्रव्यगुणसंग्रह
ध.नि.प्र.	–	धन्वन्तरिनिघण्टु, प्रस्तावना
ध.नि.भू.	–	धन्वन्तरिनिघण्टु, भूमिका
नि.भा.	–	निरुक्तभाष्य
नि.भा.वै.नि.	–	निरुक्तभाष्य, वैदिक निघण्टु
नि.शे.टी.	–	निघण्टुशेष टीका
प.मु.	–	पर्यायमुक्तवली
प.र.	–	पर्यायरत्नमाला
म.नि.	–	मदनपालनिघण्टु
रा.नि.प्र.	–	राजनिघण्टु, प्रस्तावना
वाच.	–	वाचस्पत्यम्
सि.नि.	–	सिद्धसारनिघण्टु
सि.नि.	–	सिद्धसारनिघण्टु
सु.सं.सू.	–	सुश्रुतसहिंता, सूत्रस्थान
सो.नि.नाम.	–	सोढलनिघण्टु नामसंग्रह
सौ.नि.प्र.	–	सौश्रुतनिघण्टु प्रस्तावना
हर.	–	हरमेखला

सन्दर्भग्रन्थ-

1. त्रिकमजी, यादवजी (2019 ई.)। चरकसंहिता। वाराणसी, भारत : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
2. झा, नरेश (2017 ई.)। धातुपाठः। वाराणसी, भारत : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
3. त्रिकमजी, यादवजी (2018 ई.)। सुश्रुतसंहिता। वाराणसी, भारत : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
4. पराडकर, हरि सदाशिव शास्त्रात (2010 ई.)। अष्टांगहृदयम्। वाराणसी, भारत : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
5. तिवारी, पी.वी. (2008 ई.)। काश्यपसंहिता अथवा वृद्धजीवकतन्त्र। वाराणसी, भारत : चौखम्भा विश्वभारती।
6. पालिरत्न, सी. वी. (सं.2063)। निरुक्तभाष्य। झज्जर, भारत : गुरुकुल झज्जर, हरियाणा साहित्य संस्थान।
7. सोमलेखा एवं पं. ईश्वरचन्द्र (2014 ई.)। उणादिकोषः। दिल्ली, भारत : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
8. तर्कवाचस्पति, तारानाथ (2018 ई.)। वाचस्पत्यम् (भाग1. 6)। दिल्ली, भारत : नाग प्रकाशन।
9. वाचनाचार्य, वी. जी. एवं मुनिराज, श्री पुण्यविजय जी (1968 ई.)। निघण्टुशेष। अहमदाबाद, भारत : लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर।
10. शर्मा, पी. वी. एवं शर्मा, जे. पी. (1982 ई.)। धन्वन्तरि निघण्टु। वाराणसी, भारत : चौखम्भा ऑरियन्टालिया।
11. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.)। पर्यायरत्नमाला, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।
12. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.)। राजनिघण्टु, द्वितीय संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।
13. अभिमन्यु, श्रीमन्नालाल (2008 ई.)। अमरकोष. भाग 1-3। वाराणसी, भारत : चौखम्भा विद्याभवन।
14. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.)। मदनपालनिघण्टु, द्वितीय संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

15. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.)। सौश्रुतनिघण्टु, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

16. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.) अष्टांग निघण्टु, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

17. बालकृष्ण, आचार्य (2015 ई.)। सिद्धसारसंहिता, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

18. बालकृष्ण, आचार्य (2015 ई.)। हरमेखला, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

19. बालकृष्ण, आचार्य (2015 ई.)। चन्द्रनिघण्टु, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

20. कृष्णमूर्ति, एम.एस. (2012 ई.)। अभिधानमंजरी। वाराणसी, भारत : चौखम्भा ओरियन्टेलिया।

21. त्रिकमजी, यादवजी (1922 ई.)। द्रव्यगुणसंग्रह। बॉम्बे, भारत : निर्णयसागर यन्त्रालय।

22. शर्मा, पी.वी. (1978 ई.)। सोढलनिघण्टु। गुजरात (बरोदा), भारत : ऑरियन्टल इन्स्टिट्यूट।

23. बालकृष्ण, आचार्य (2019 ई.) पर्यायमुक्तावली, प्रथम संस्करण। हरिद्वार, भारत : दिव्य प्रकाशन।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (16-21) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

पर्यावरण संरक्षण और संवर्धन पर वैदिक दृष्टिकोण

डॉ. प्रशान्त सरकार*

पर्यावरण का सीधा और सरल अर्थ है- प्रकृति का आवरण या प्राकृतिक जगत्। इसके लिए यह कहा जाता है- 'परितः आवरणम्' अर्थात् भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, वनस्पति और जीव-जन्तु के रूप में हमारे सामने उपस्थित प्राकृतिक जगत् को यानी जिससे हम आवृत्त हैं, जो हमारे जीवन के चारों ओर विद्यमान है उसे ही पर्यावरण कहते हैं। पर्यावरण शब्द का संस्कृत भाषा के 'परि' (चारों ओर) और आवरण (ढका हुआ) से मिलकर बना है, जो पर्यावरण की परिभाषा को सिद्ध करता है। अंग्रेजी शब्द में इसे 'Environment' कहते हैं। इसका मूल शब्द फ्रैंच environ से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है चारों ओर अर्थात् अंग्रेजी में जिसे कहता है Surrounding। पर्यावरण का महत्व जितना हमारे अस्तित्व के लिए आवश्यक है, हमारे विकास के लिए भी उतना ही ज्यादा आवश्यक होता है। आज की परिभाषा में तो इसी को पर्यावरण कहते है।

भारतीय सनातन संस्कृति में मुनि, ऋषियों ने पर्यावरण के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए कहा हैं कि पर्यावरण के दो रूप हैं- एक 'बाह्य पर्यावरण' और दूसरा 'आंतरिक पर्यावरण'। भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश जीव-जन्तु और वनस्पतियों के रूप में बाह्य पर्यावरण और आत्मा के रूप में आंतरिक पर्यावरण। दोनों ही परम् पिता परमात्मा के द्वारा बनाए गए हैं। इसीलिए दोनों में एकरूपता, एकलयता और अविभाज्य संबंध हैं और इसी को समझना अति आवश्यक है। भारतीय ऋषि-मनीषियों ने इस एकरूपता और एकलयता को समझने और बनाए रखने पर जोड़ दिया है। पर्यावरण को नष्ट करना और पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न करना ही आज की परिभाषा में प्रदूषण कहते हैं। प्रदूषण के दो रूप हैं- बाह्य (बाहरी) प्रदूषण और आंतरिक प्रदूषण। भूमि, जल, वायु, जीव-जंतु और वनस्पतियों में जीवन को नुकसान पहुँचाने वाले रासायनिक, भौतिक और जैविकी तत्त्वों की आवश्यकता से अधिक उपस्थिति होने पर बाह्य प्रदूषण की स्थिति उत्पन्न होती है। हमारे मनीषियों ने मानसिक विकार और बौद्धिक कुत्साओं को आंतरिक प्रदूषण के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि आंतरिक प्रदूषण के कारण ही बाहरी प्रदूषण

* सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, कुरसोंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल)

पैदा होता है। पहले मनुष्य के मन में आंतरिक प्रदूषण के रूप में मानसिक विकार और बौद्धिक कुत्सा उत्पन्न होता है, जिससे उसके मन में लोभ एवं लालसा जैसी भावना जागती है और तब उसका प्रकटीकरण बाह्य प्रदूषण एवं असंतुलन के रूप में होता है। बहुधा हम यह देख पाते हैं कि अति प्राचीन काल से ही सनातन संस्कृति के साथ पर्यावरण का अविभाज्य सम्बन्ध रहा है। वेदों में जैसे उपदेश दिया गया है-

ओ३म् स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।।[1] ऋ. 5/51/15

परम् पिता परमात्मा का यह उपदेश हैं कि हे मनुष्य! जैसे सूर्य अपनी निदिष्ट गति पथ पर चलते हुए सब को समान रूप से, बिना किसी भेद-भाव के सबको समान दृष्टि से प्रकाश प्रदान करते है, चंद्रमा अपनी निर्दिष्ट गति पथ पर चलते हुए सब को स्निग्ध शीतल आभा से शांति का संदेश देता है, वैसे ही सब मानव भी सूर्य और चन्द्रमा की तरह निरंतर कर्म करते हुए सदैव कल्याणकारी उत्तम मार्ग पर चले।

प्रकृति का कुछ नियम है, जिसका सभी निरंतर पालन करते रहते हैं। परंतु इसमें सिर्फ मनुष्य व्यतिक्रम है, जो प्रकृति के अनुकूल नहीं बल्कि प्रकृति को अपने बस में रखने की कोशिशें करते रहते है। सूर्य अपने नियम में चलते हुए उदय और अस्त होता है। चन्द्रमा अपने सीमा में रहते हुए निरंतर गतिमान है। इसी क्रम में दिन-रात का चक्र सृष्टि काल से ही अनवरत चल रहा है। ऋतुएं अपने समय पर परिवर्तित होती रहती है। अनंत काल से पर्वत, समुद्र, पेड़- पौधे, पशु-पक्षी, तथा सारा प्राणी जगत प्रकृति के नियमों का अनु-पालन कर रहे हैं। यहाँ तक कि जब-जब देवत्व तुल्य मानव इस धरती पर अवतरित हुए हैं तब-तब वे देवगण भी प्रकृति के नियमों के अधीन रहकर प्रकृति को संतुलित बनाये रखने का संदेश अपने कृतित्वों के द्वारा देते चले गए हैं। प्रकृति के पंचमहाभूत- क्षिति, अग्नि, जल, वायु और आकाश से ही भौतिक और जैविक पर्यावरण का निर्माण होता है। वेदों में मूलतः इन पंचमहाभूतों को दैवीय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।

आगे चलकर श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि पर्यावरण के विभिन्न अवयव, जैसे - पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार आदि स्वयं ईश्वर की ही विभिन्न प्रकृतियाँ हैं। यहाँ पर गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति के पांच तत्वों के स्थान पर आठ तत्वों का उल्लेख किया है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 7/4

---

1. ऋग्वेद- 5/51/15
2. श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय 7/4

सिर्फ यही नहीं, वेदों में इससे भी आगे बढ़कर कहा गया है कि ईश्वर का निवास सब जगह और सब में व्याप्त है-

ईशा वास्यमिदंसर्व्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। यजु.- 40/1

अर्थात् ईश्वर यहाँ-वहाँ प्रकृति में सब जगह सर्वत्र विद्यमान हैं। वह सर्वव्यापक और सब जगह विराजमान है। इसीलिए प्रकृति की पूजा, पर्यावरण के विभिन्न अवयवों की पूजा और ईश्वर की पूजा की जाती है, क्योंकि ईश्वर ही संपूर्ण ब्रह्मांड जगत की सृष्टिकर्ता और पालनकर्ता हैं। वह सर्वव्यापक और सर्वांतर्यामी हैं। इसीलिए उसी की उपासना करनी चाहिए और ईश उपासना के लिए सर्वोत्तम विधान यज्ञ ही है। उपनिषद में कहा गया है कि 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् मानव जीवन का श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है। अगर हम 'यज्ञ' शब्द का समग्रता के साथ विचार करके देखें, तो प्रकृति का संतुलन और पर्यावरण संरक्षण हेतु संकल्प द्वारा किया गया कर्म ही यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ विधान के माध्यम से वैदिक परंपरा में मूलतः प्रकृति का संतुलन और पर्यावरण संरक्षण पर ही बल दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक संस्कृति में जहां तह रीति एवं परंपरा की बात की जाती है, वह प्रकृति और पर्यावरण को ध्यान में रखकर किया गया वैज्ञानिक विधान है।

हिन्दू रीति एवं परम्पराओं में हम देवताओं के वाहनों को देख सकते हैं। भगवान् शंकर का वाहन नंदी गाय है, कार्तिक मोर पर चढ़ कर सवार हैं, ब्रह्माजी हंस पर, विष्णु गरुड़, गणेश चूहे पर और लक्ष्मीजी उल्लू पर सवार हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न वाहन है। यहाँ यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि ये वाहन क्यों? क्या संकेत करने के लिए, क्या बताने के लिए और क्या समझाने के लिए हैं? इसके पीछे एक दृष्टि काम कर रही है और वह है पर्यावरण संरक्षण की भावना।

हम अपने रीति-परंपरा में, अपने व्रत-त्यौहार को देख सकते हैं। वट सावित्री के दिन महिलाएं वट-वृक्ष की पूजा करती हैं। किसी दिन पीपल की पूजा, तुलसी-पूजन आदि के माध्यम से वट-वृक्ष आदि की सेवा और संरक्षण की भावनाएं ही है। यहाँ के त्यौहार को देख लीजिए, होली, दिवाली, संक्रांति, गोपाष्टमी, वसंत पंचमी आदि सब ऋतु-परिवर्तन से सम्बन्धित हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति के सम्बन्ध में हिंदुओं का क्या दृष्टिकोण हैं? प्रकृति पर विजय पाने की नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ रहकर, प्रकृति के साथ सहचरी बनकर ही प्रकृति का संरक्षण करना हमारा कर्तव्य होता है। पर्यावरण से सम्बन्धित यही सनातन वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण है।

सनातन वैदिक धर्म में चार आश्रम व्यवस्था की बात की जाती है। भारत की संस्कृति मुख्यतः अरण्य (वन) संस्कृति पर आधारित है। चार आश्रमों में से तीन आश्रम- ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास वनों में बिताए जाते थे। मानव निर्माण का पहला पायदान ब्रह्मचर्य आश्रम गुरुकुल के रूप में हुआ करता था, जो विद्या अध्ययन का केंद्र होता था। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम दोनों मूलतः वनों में निवास करने से ही सम्बन्धित हैं। इस प्रकार जिस देश की संस्कृति में वनों को इतना ज्यादा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया हो, प्रकृति के विभिन्न अवयवों को इतना गुरुत्व दिया गया हो, वास्तव में वह भारतीय सनातन संस्कृति प्रकृति और पर्यावरण के सही धारक और पोषक प्रहरी है। प्रकृति की ओर हम कैसे देखें और प्रकृति हमारी ओर किस भाव से देखे, इस संबंध में यजुर्वेद में एक बहुत सुंदर मंत्र मिलता है। ऋषि कहता है-

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[1] यजु.- 36/18

इसमें तीन बातें कही गई हैं-पहला, संपूर्ण भूतप्राणी (यानि जीव, जंतु आदि) मेरी ओर मित्रता के भाव से देखें। वे हमारा मंगल करें, हम पर कृपा बनाए रखें। हमारे प्रति मित्रता का भाव रखें। दूसरा प्रार्थना करने वाला कहता है कि हम (मैं) भी प्रकृति को मित्र भाव से देखें। प्रकृति के प्रति यह प्रेम ही है जो तकनीकी-टेक्नोलॉजी के व्यवहार में भी हमारा मानवीय आधार बचा हुआ है। तीसरा हम दोनों अर्थात प्रकृति और मनुष्य एक-दूसरे को मित्रभाव से देखें। इस प्रकार, वास्तव में जीव-जगत के बीच घनिष्ठ व सार्थक समझदारी का नाम ही पर्यावरण चेतना है। हमारे वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनमें देवता स्वरूप प्रकृतिक शक्तियों के सानिध्य की कामना की गयी है। पर्यावरण के प्रति देव-दृष्टि और मातृभाव रखना हमारी संस्कृति में गहरे रूप में समाया हुआ है। इसीलिए कहा जाता है-

यत्ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।।[2] अथर्ववेद, भूमिसूक्त- 12/1/12

अर्थात् हे पृथ्वी! यह जो तेरा मध्य भाग है एवं जो उभरा हुआ ऊर्ध्व भाग है, ये तुम्हारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंग ही तो हैं, जो ऊर्जा से भरे हैं। यह भूमि मेरी माँ

1. यजुर्वेद - 36/18
2. अथर्ववेद, भूमिसूक्त-12/1/12

है और मैं उसी भूमि का पुत्र हूँ। सींचने वाला मेघ (पर्जन्य) मेरे पिता तुल्य पालक हैं, इसीलिए पितृवत छाया हम पर बनी रहे और हमें पूर्ण करे। गौर की बाली यह बात है कि यहाँ पर पुत्र, माँ को किस भाव और श्रद्धा से देखता है और माँ जननी के प्रति पुत्र काक्या कर्तव्य होता है। यही पर्यावरण संरक्षण और संतुलन का मूल आशय भी है।

भारत देश अति प्राचीन काल से ही ऋषि-परंपरा का देश के रूप में जाने जाते है और भारतीय संस्कृति हमें विरासत में ही मिला हैं। इसीलिए भारत की ऋषि-मनीषियों ने आदि काल से ही प्रकृति और पर्यावरण पर विचार कर जीवन को संतुलित बनाए रखने के लिए 'एकात्म दर्शन' का विकास किया है। यदि प्रकृति को संतुलित रखना है ओर पर्यावरण का संरक्षण करना है तो एकांतिक नहीं संतुलित जीवन-दृष्टि चाहिए। यदि प्रकृति में संतुलन नहीं रहा, तो प्रकृति और पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव (कुप्रभाव) पड़ना अवश्यं भावी हो जाएगा। ऐसे में मनुष्य अपने भोग प्रवृत्ति पर अंकुश लगाएं बिना, अपने भोग लालसा पर नियंत्रण रखे बिना पर्यावरण संरक्षण पर संभव नहीं है। इसीलिए वेद हमें उपदेश देता है-

तेनं त्यक्तेनं भुंजीथा मा गृधः कस्यं स्विद्धनंम्।।[1] यजु.- 40/1

परम पिता परमात्मा का उपदेश कि हे मानव! संसार में जो कुछ भी है, प्राणी, अप्राणी, चेतन और अचेतन रूप जगत् है, वे सब कुछ ईश्वर के द्वारा बसने योग्य, अच्छादन करने योग्य अर्थात आच्छादित है। सब जगत् के स्वामी परमेश्वर के द्वारा दिये हुए पदार्थों का ही त्याग पूर्वक भोगकर। किसी के धन की लालसा न कर, अर्थात प्रभु ने तुझे अपने कर्मानुसार जो दिया है उसी पर ही तू संतोष कर। इससे वर्तमान जीवन सुख से जीने के लिए 'लालच बुरी बला है' इस कथन की सार्थकता सिद्ध होता है, साथ यह भी निर्देश है कि भविष्य के लिए भी बचाएं रखें । जगत् स्रष्टा परमपिता परमात्मा का सब मानव के लिए उपदेश हैं

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[2]

(बृहदारण्यकोपनिषद् का शान्तिपाठ मंत्र)

अर्थात् इस मंत्र में स्पष्ट रूप यह कहा गया है कि प्रकृति से हम उतना ही ग्रहण करें, जितना हमारे लिए आवश्यक हैं और प्रकृति की पूर्णता को क्षति न पहुँचे। यही तो Sustainable theory (स्थायी सिद्धांत) है। सिर्फ यही नहीं है। सम्पूर्ण चराचर

---

1. यजुर्वेद 40/1
2. बृहदारण्यकोपनिषद का शान्तिपाठ मंत्र

जगत् में, भू-लोक, द्यु-लोक और अन्तरिक्ष लोक में समता और शांति बनाये रखने के लिए परमपिता परमात्मा का यह उपदेश कितना महत्वपूर्ण है जिसकी आवश्यकता संसार में कहीं भी और कभी भी कम नहीं होगी। बल्कि इस मंत्र का भाव संसार के लोगों में और दिलों में जितना जगाया जाएगा उतना ही संसार और विश्व का कल्याण होगा।

ओ३म् द्यौः शान्तिरंतरिक्षम् शान्तिः
पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म
शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥[1] यजुर्वेद-36/17

इस शान्ति पाठ मंत्र में सृष्टि के समस्त तत्वों व कारकों से शान्ति बनाये रखने की प्रार्थना किया गया है। इसमें कहा गया है कि द्युलोक में शान्ति हो, अन्तरिक्ष में शान्ति हो, पृथ्वी पर शान्ति हों, जल में शान्ति हो, औषध में शान्ति हो, वनस्पतियों में शान्ति हो, विश्व में शान्ति हो, सभी देवतागणों में शान्ति हो, ब्रह्म में शान्ति हो, सब जगह में शान्ति हो, चारों तरफ शान्ति हो, शान्ति ही शान्ति हो, शान्ति हो।

इस से जग जाहिर है कि सनातन वैदिक काल से ही पर्यावरण संरक्षण और संवर्धन पर कितना गहन दृष्टि रही है। कुल मिलकर इस मंत्र के ज़रिये जगत् के समस्त जीवों, वनस्पतियों और प्रकृति में शान्ति बनी रहे इसकी प्रार्थना की गई है। भारत के हार आर्य सनातनी संप्रदाय के लोग अपने किसी भी प्रकार के धार्मिक कृत्य, संस्कार, यज्ञ आदि के अंत में इस शांति पाठ के मंत्रों का मंत्रोच्चारण करते हैं।

एतद् यह कहना समीचीन है कि वर्तमान युग औद्योगिकीकरण और भूमंडलीय उपभोक्तावादी सांस्कृतिक युग में पर्यावरण के विविध आयामों दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है, जिससे पर्यावरण में असंतुलन, असामंजस्य और अस्थिरता बढ़ना स्वाभाविक हो गया है। इससे बचने का उपाय सिर्फ एक है कि हम वेदों की और लोटे और वेद में बताएं गए पर्यावरण से संबन्धित उपदेश को जीवन का आधार बनाये और उसी मार्ग पर चले। इससे हम सम्पूर्ण भूमंडल को पर्यावरण के खतरों से बचा लेंगे और भविष्य के लिए भी पर्यावरण का मजबूत आधार तैयार कर पायेंगे।

✦✦✦

1. यजुर्वेद-36/17

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (22-39) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

योग एवं आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित आहार विधि-विधान एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी उपादेयता

सुधा यादव*, अमित कुमार,**
डॉ. सुशील कुमार दुबे*, डॉ. विनायक कुमार दुबे*****

सारांश-

आहार प्राणियों के जीवन का आधार है। आहार का अर्थ है ग्रहण करना। अत्यंत सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर विशालकाय जंतुओं, मनुष्यों तथा वृक्ष व अन्य वनस्पतियों को जीवन-यापन के लिए आहार ग्रहण करना पड़ता है। जिस प्रकार सौर मण्डल सूर्य के चारों ओर घूमता है ठीक उसी प्रकार अच्छा स्वास्थ्य शुद्ध एवं संतुलित नियमित सात्विक आहार के ऊपर निर्भर करता हैं। योग एवं आयुर्वेद शास्त्रों में आहार विषयक अलग-अलग विधि-विधान, आहार क्रम, आहार मात्रा, ऋतु और काल के अनुसार पथ्य-अपथ्य आहार आदि का वर्णन किया गया है जिनका अनुसरण कर व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ रख सकता है।

हम जो भी भोजन करते हैं उसका कुछ हिस्सा हमारा रस, रक्त बनता है, कुछ मांस, कुछ अस्थि और कुछ अन्य धातु यहां तक कि हमारे विचार भी भोजन की ऊर्जा के ही परिवर्तित रुप हैं। इसलिए बिना आहार-विहार को ठीक किये स्वास्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। योग व आयुर्वेद ग्रंथों में वर्णित तथ्य स्वास्थ्य को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह शोध पत्र योग एवं आयुर्वेद जैसे पारम्परिक ज्ञान प्रणालियों के साथ गहन जुड़ाव की आवश्यकता पर ध्यान आकर्षित करते हुए आहार के महत्त्व को सिद्ध करता है।

---

* शोध छात्रा, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** शोध छात्र, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

*** सहायक आचार्य, क्रिया शारीर विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

**** सहायक आचार्य, शारीरिक शिक्षा विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

संकेत शब्द- योग, आयुर्वेद, आहार, सात्विक आहार, हितकर-अहितकर आहार, आहार मात्रा, आहार काल, अग्नि बल, पथ्य-अपथ्य, ऋतु, महाऔषधि।

परिचय-

हमारी भारतीय संस्कृति व सभ्यता इतनी समृद्धशाली हैं कि प्राचीन समय में आयु की वृद्धि करने वाले अनेकों उपाय विभिन्न ग्रंथों में ऋषि-मुनियों द्वारा बताये गए हैं। यह सभी उपाय योग एवं आयुर्वेद के अंतर्गत हम अध्ययन करते हैं। आज वर्तमान समय में अनेक प्रकार के रोग भयावह रूप धारण किये हुए प्रकट हो रहे हैं। इन रोगों के मूल कारण को यदि हम जानने का प्रयास करते हैं, तो हमें ज्ञात होता कि वर्तमान में आहार की गुणवत्ता में पहले की तुलना में कमी आयी है जिसके अनेक कारण हैं। वर्तमान समय में आधुनिकता के प्रभाव से व व्यावसायिक दृष्टि से आहार को अत्यधिक प्रसंस्कृत रूप में प्रयोग किया जा रहा है। जो कि रोग की सम्भावना को तेजी से बढ़ा रहा है, जिसके कारण मनुष्य मानसिक रोग, तनाव, अनिद्रा, मोटापा, मधुमेह, हृदय रोग आदि समस्याओं से ग्रसित हो रहा है। इन सभी अनेक समस्याओं व रोगों से छुटकारा पाने के लिए आहार व्यवस्था सम्बन्धी तथ्य जैसे- आहार कैसा लेना है, कब लेना है, कितनी मात्रा में लेना है, किस क्रम में लेना है, किस काल में लेना है, किस प्रकार के प्रकृति के व्यक्ति को कैसा आहार लेना है आदि ये सभी जानकारियां सभी को अवश्य होनी चाहियें।

आहार क्या है?

आहार वह ठोस अथवा तरल पदार्थ है, जो जीवन-यापन, वर्ण, प्रसन्नता, मधुर स्वर, प्रतिभा, सुख-संतोष, शरीर की पुष्टि, बल, मेधा, स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए, रोगों से रक्षा हेतु, सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों की एकता हेतु संवेगात्मक संतुष्टि, सुरक्षा, प्रेम आदि के लिए आवश्यक होता है।

आह्रीयते इति आहारः।[1]

शरीर के पोषण के लिए जो द्रव्य ग्रहण किया जाता है, वह आहार कहलाता है। यह आहार छः रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) से युक्त होता है एवं बल, वर्ण, तथा ओज आदि की वृद्धि कर शरीर को पुष्ट और सौष्ठवयुक्त बनाता है।

---

1. डॉ सुनील वर्मा, प्रो. जयराम यादव, *शरीर क्रिया विज्ञान*, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2018, ISBN : 978-81-7637-131-5, पृष्ठ-136 (आयुर्वेदीय महाकोष)

योग का उद्गम- योग परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जैसे गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।[1]

अर्थात् हे अर्जुन, मैंने ही इस योग का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में सूर्य देवता को दिया था, इसके पश्चात् सूर्य ने अपने पुत्र मनु को यह योग सिखाया तथा मनु द्वारा यह योग विद्या इक्ष्वाकु को दिया गया और फिर एक राजर्षियों की लम्बी परम्परा चलती गयी और अन्त में वह योग लुप्त हो गया था जिसको आज पुनः तुम्हारे सामने प्रस्तुत किया है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं-**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योगसूत्र 1/2)। चित्तवृत्ति का तात्पर्य चित्त या मन के विषयकार में परिणमन से है। महर्षि पतंजलि द्वारा रचित पातंजल योगसूत्र 'अष्टांग योग' के नाम से भी जाना जाता है। यह नाम इसके आठ अंगों के नाम पर पड़ा। ये आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि।

आयुर्वेद की उत्पत्ति-

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेद प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः॥

अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्॥[2]

सर्वप्रथम सम्पूर्ण आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा ने किया उसी रूप में सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति ने आयुर्वेद को ग्रहण किया था। इसके बाद दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने आयुर्वेद का अविकल ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद अश्विनीकुमारों

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक संख्या-1,2,3, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-46, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या-165-167
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-4,5, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-7

से सम्पूर्ण आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र ने प्राप्त किया था। इस प्रकार ऋषियों के परामर्शानुसार महर्षि भारद्वाज आयुर्वेद अध्ययन के लिए इन्द्र के पास गए।

आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः।

अर्थात् जो शास्त्र (विज्ञान) आयु (जीवन) का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।[1]

अर्थात् जिस शास्त्र के उपदेशों का अनुपालन सम्यक् रूप से करने पर आयु बनी रहे अर्थात् जिससे आयु का ज्ञान हो या आयु का लाभ कराये या आयु कि सत्ता स्थापित कराएँ उसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ पर आयु का तात्पर्य शरीर, सभी इन्द्रिय, मन, एवं आत्मा के संयोग को कहते हैं।

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणालियों में से एक है। इसे विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) द्वारा भी एक पारम्परिक चिकित्सा प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसकी जड़ें भारतीय उपमहाद्वीप में हैं।[2]

आयुर्वेद केवल चिकित्सा विज्ञान ही नहीं है, अपितु यह एक पूर्ण जीवन विज्ञान है।

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्य-
रक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।।[3]

आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ को बनाये रखना है, जिससे किसी प्रकार का रोग उत्पन्न ना हो एवं द्वितीय उद्देश्य रोगों का उपचार करना है।

आहार- आयुर्वेद विशिष्ट वैचारिक और सैद्धांतिक स्थितियों के आधार पर भोजन और स्वास्थ्य के बारे में व्यापक अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। चरक संहिता के अनुसार महर्षि चरक ने निरूपित किया है कि-

---

1. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-23, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ संख्या-8
2. Kishore P. (1981) Clinical research in Ayurveda :- an overview-Ancient science of life, 1(2), 110-115.
3. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-30, श्लोक-26, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-495

त्रय उपस्तंभा इति आहारः, स्वप्नो, ब्रम्हचर्यमिती, एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तै रुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते।।[1]

अर्थात् आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य यह तीन उपस्तंभ हैं। इन तीनों उपस्तंभों का युक्ति पूर्वक सेवन करने से शरीर स्थिर होकर जब तक संस्कारित रहता है तब तक वह बल, वर्ण, बुद्धि से उपचित होकर उचित रूप में रहता है।

भेषजेनोपपन्नोऽपि निराहारो न शक्यते।
तस्माद्भिषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते।।[2]

ओषधि का सेवन करने पर भी आहार के बिना व्यक्ति की स्थिति नहीं होती है। इसलिये वैद्यों ने आहार को महाभैषज्य कहा है। अर्थात् केवल ओषधियों के सेवन से कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। जीवन को स्थिर रखने के लिये आहार अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए **'आहार ही महाऔषध है।'**

इन तीन उपस्तम्भों में प्रथम स्तम्भ आहार को सबसे प्रमुख बताया गया है। आहार को महा-औषधि कहा गया है। ऐसे में स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त रहना है तो आयुर्वेद के सिद्धांतों को हमें अपने जीवन में शामिल करना चाहिये।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।[3]

अर्थात् जिससे सभी दोष सम मात्रा में हों, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएं भी सम (उचित रूप में) हों तथा जिसकी आत्मा, इंद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हों उसे स्वस्थ समझना चाहिए।

आहारसंभवम् वस्तु रोगाश्चाहारसंभवाः।
हिताहित विशेषाच्च विशेषः सुखदुःखयोः।।[4]

---

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-11, श्लोक-35, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-171
2. पंडित हेमराज शर्मा, काश्यप संहिता, खिलस्थानम्, अध्याय-4, श्लोक-6, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संस्करण पुनर्मुद्रण वि. सं. 2021, ISBN : 81-86937-67-6, पृष्ठ-378
3. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-15, श्लोक-48, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN: 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-84
4. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-28, श्लोक-45, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-481

आहार सेवन से रसादि सप्तधातुयें बनती है, जिससे शरीर का तर्पण एवं वृद्धि होता है। हितकर आहार के सेवन से आरोग्यता प्राप्त होती है जो सुखकारक है। अहितकर आहार रोगों को उत्पन्न कर दुख देता है।

विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च।।[1]

धातुओं की विषमता को रोग कहा जाता है, धातुओं की समता का नाम प्रकृति (स्वस्थावस्था) है, आरोग्यावस्था का नाम सुख है और विकार (रोगावस्था) का नाम दुःख है।

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते।।31।।

ते चतुर्विधाः-आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति।।32।।[2]

जिनके संयोग से पुरुष (मनुष्य) को दुःख होता है उन्हें व्याधि (रोग) कहते हैं। ये व्याधियाँ चार प्रकार की होती हैं-आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक।

तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः।।
शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः।।
मानसास्तुक्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याऽभ्यसूयादैन्य-
मात्सर्य्यकामलोभप्रभृतयइच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति।।
स्वाभाविकास्तुक्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः।।33।।

आगन्तुक- इनमें आगन्तुक रोग शस्त्र, लाठी, पाषाण आदि के आघात से उत्पन्न होते हैं।

शारीरिक- शारीरिक रोग हीन, मिथ्या और अतिमात्रा में प्रयुक्त अन्नपान के कारण, कुपित हुए या विषम हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके सन्निपात (समूह) से उत्पन्न होते हैं।

मानसिक- मानस रोग क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदों से उत्पन्न

---

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-9, श्लोक-4, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-139
2. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-31,32, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN: 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-9,10

होते हैं।

स्वाभाविक- स्वाभाविक रोग भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु और निद्रा आदि हैं।

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः।।34।।

तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः।।35।।[1]

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर को आश्रित कर उत्पन्न होते हैं।

इन रोगों का निग्रह या प्रतीकार देश, काल, वय, मात्रा आदि रूप से सम्यक्-प्रयुक्त संशोधन, संशमन, आहार और विहार से होता है।

पंचभौतिक तत्व एवं आहार से सम्बन्ध-

सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकमस्मिन्नर्थे।।[2]

अर्थात् कार्यरुपी सृष्टि में सभी द्रव्यों का निर्माण पंचमहाभूतों से होता हैं।

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा।।[3]

पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु- इन पाँच तत्वों से यह अत्यंत अधम शरीर रचा गया है।

साधारणतः जीवित या मृत दोनों ही अवस्थाओं में यह शरीर पंचभौतिक तत्वों से बना है और हमारा आहार भी पंचभौतिक तत्वों से बना है।

पंचभूतात्मके देहे आहारः पांचभौतिकः।
विपक्वः पंचधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।।[4]

---

1. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-33-35, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN: 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-9,10
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-26, श्लोक-10, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-369
3. टीकाकार-हनुमान प्रसाद पोद्दार, श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड-11/2, गीता प्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रण-124, संस्करण-2076, पृष्ठ-637
4. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-533, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN: 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-290

अर्थात् पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से निर्मित देह में गया हुआ पंचभौतिक आहार पाचक पित्त या अग्नि (पाचक रसों) द्वारा ठीक तरह से पक्व होकर अपने-अपने गुण वाले शारीरिक अंग या धातुओं को बढाता है।

आयुर्वेद के सिद्धांतों के अनुसार हमारा शरीर मुख्य तीन मूल तत्वों से मिलकर बना है, जिन्हें दोष, धातु और मल कहा जाता है।

आयुर्वेद मतानुसार शरीर दो दोषों से मिलकर बना है-

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

1. शारीरिक दोष- जिनके तीन भेद हैं- वात, पित्त और कफ।

2. मानस दोष- रज और तम।

ये तीनों दोष प्रकृति के मूल पांच तत्वों अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश से मिलकर बने होते हैं। प्रत्येक दोष में इन मूल पांच तत्वों में से कोई दो तत्व होते हैं और उन्हीं तत्वों के आधार पर शारीरिक कार्य प्रक्रिया निर्धारित होती है।

व्याधियों के हेतु-

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।

शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के व्याधियों का कारण काल, बुद्धि तथा इन्द्रियार्थों का मिथ्यायोग, अतियोग एवं हीनयोग ही है।

व्याधि के आश्रय-

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः॥[1]

शरीर और मन ये दो व्याधियों के आश्रय हैं तथा सुख के भी यही आश्रय हैं। कालबुद्धीन्द्रियार्थ का समयोग ही सुख का कारण है।

हितकर अहितकर आहार (पथ्य-अपथ्य)-

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति,
अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति॥[2]

---

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-54-55,57, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-23-26
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-25, श्लोक-31,

हितकर आहार हमारी धातुओं को साम्यावस्था में रखता है और हमें बीमारियों अथवा व्याधियों से बचाए रखने एवं स्वास्थ्य वर्धन में सहायता करता है। अहितकर आहार का उपयोग व्याधि का कारण है।

आहार क्रम-

आयुर्वेद में आहार का सेवन काल, मात्रा, ऋतु और लोगों की शारीरिक बनावट (प्रकृति) आदि के अनुसार तय किया गया है।

भोजन के समय सबसे पहले भोज्य वस्तु-

अदरक और सैन्धव नमक-

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्।
अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥[1]

भोजन के प्रारम्भ में सर्वदा सेंधा नमक के साथ अदरक खाना हितकारी होता है, क्योंकि यह अग्नि को दीप्त करने वाला, रुचिकारक, जिह्वा तथा कण्ठ का शोधन करने वाला होता है।

रसों के भेद-

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥[2]

चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN: 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-348

1. भिषग्रत्न श्री ब्रह्मशंकर मिश्र, भावप्रकाशः, दिनचर्यादिप्रकरण, श्लोक-130, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, ISBN : 81-86937-44-7, पृष्ठ-126
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-65,चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-30-31

मुख्यतः रस छः होते हैं- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय।

रसों के उपयोगी कार्य-

स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्तिपित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः।

मधुर, अम्ल, लवण रस वायु को, कषाय मधुर तिक्त रस पित्त को तथा कषाय कटु तिक्त रस कफ को प्रशमित करते हैं।

कट्वम्ललवणाः पित्तंस्वाद्वम्ललवणाः कफम्।
कटुतिक्तकषायाश्चकोपयन्तिसमीरणम्॥66॥

कटु अम्ल लवण रस पित्त को, मधुर अम्ल लवण रस कफ को तथा कटु तिक्त व कषाय रस वात को प्रकुपित करते हैं।

प्रभाव भेद से द्रव्यों के भेद-

किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचिद्त्रिविधं द्रव्यमुच्यते॥67॥[1]

कुछ द्रव्य दोषों का प्रशमन करते है; कुछ द्रव्य धातुओं को दूषित करते हैं तथा कुछ द्रव्य स्वस्थ पुरुषों के लिए हितकारक होते हैं। इस प्रकार द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं।

भोजन विधि-

पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ।
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत्॥[2]

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-66-67, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-30-31
2. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-466, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283

भोजन में सर्वप्रथम मधुर पदार्थों को ग्रहण करना चाहिए, मध्य में अम्ल एवं लवण रस वाले पदार्थ खाने चाहिए तथा अंत में शेष कटु-तिक्तादी रसों वाले पदार्थों को खाना चाहिए।

हींग, मरिच, पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और शुण्ठी) आदि कटु रस वाले खाद्य पदार्थ हैं। अंत में सूप का सेवन करना हितकर है।

तिक्त रस अन्य पदार्थों को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाता है। इससे भोजन में रुचि बढ़ती है। तिक्त रस वाले पदार्थ विषैले प्रभाव, पेट के कीड़ों, कुष्ठ, खुजली, बेहोशी, जलन, प्यास, त्वचा के रोगों, मोटापे व मधुमेह आदि को दूर करते हैं।

आदौ फलानिभुञ्जीतदाडिमादीनि बुद्धिमान्।
ततः पेयांस्ततोभोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम्॥[1]

1. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-467, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283

बुद्धिमान् व्यक्ति भोजन के आरम्भ सबसे पहले दाड़िम (अनार) आदि फलों का सेवन करें। तत्पश्चात् पेय पदार्थ एवं तदुपरांत भिन्न-भिन्न भोज्य पदार्थ एवं भक्ष्य पदार्थों को खाना चाहिए।

मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च।
पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुक्ते कदाचन॥[1]

मृणाल (कमल नाल), बिस, कंद तथा इक्षु (गन्ना), आदि पदार्थों का उपयोग भोजन से पूर्व ही सदैव करना चाहिए। इनका सेवन भोजन के बाद कदापि न कराये।

घनं पूर्वं समश्नीयात्, केचिदाहुर्विपर्ययम्॥[2]

भोज्य पदार्थों में प्रथम घन (ठोस), पदार्थों को खाना चाहिए।

निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम्॥[3]

सर्वदोष नाशक भोजन करने वाला तथा फलों में श्रेष्ठ आवलें के फलों अथवा उसके चूर्ण को सेवन करना मनुष्यों के लिए प्रशस्त हैं।

छाछ-

भोजनान्ते पिवेत् तक्रं, दिनांते च पिवेत् पयः।
निशांते पिबेत् वारिः न दोषो जायते कदाचन॥

1. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-470, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283
2. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-468, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283
3. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-467, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283

अर्थात् भोजन के बाद छाछ, दिनांत यानी शाम को दूध, निशांत यानी प्रातः पानी पीने वाले के शरीर में किसी भी तरह का दोष या रोग नहीं होता। अतः उपरोक्त नियम का पालन करने से वैद्य या चिकित्सक की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आहार मात्रा-

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।।[1]

अर्थात् मात्रा पूर्वक आहार सेवन करना चाहिए, आहार मात्रा पुनः अग्नि बल की अपेक्षा करती है।

कालेभुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृध्दये।[2]

एक निश्चित काल में खाया हुआ आहार अग्नि को प्रदीप्त बनाये रखते हुए सम्यक् रूप से पचकर आयु को बढ़ाता है। अतः मनुष्य के लिए उचित है कि उचित काल में किया गया भोजन आरोग्य एवं तृप्ति प्रदान करता है।

आहार एवं ऋतुचर्या का पालन- ऋतु अनुसार प्राकृत रूप से उत्पन्न हुई फलों सब्जियों आदि का सेवन करना हितकर होता है।

तस्याशिताद्यादाहारद्वलं वर्णश्च वर्धते।
यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।।[3]

---

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-5, श्लोक-3, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ संख्या-71
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, चिकित्सास्थानम्, अध्याय-15, श्लोक-7, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, पृष्ठ-377
3. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-6, श्लोक-3, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-91

जिसे ऋतु सात्म्य का ज्ञान है तथा जिसका आहार एवं विहार ऋतुओं के अनुकूल है अर्थात् किस ऋतु में क्या खाना चाहिए एवं क्या करना चाहिए, इसका उसे ज्ञान हो एवं तदनुसार आचरण करता हो। ऐसे व्यक्ति का स्वास्थ्य बना रहता है तथा ऋतु साम्य के अनुसार आहार करने से बल एवं वर्ण आदि की वृद्धि होती है।

आहार ग्रहण करने के महत्त्वपूर्ण नियम-

आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते।[1]

भोजन के आरम्भ से अंत तक कोई बाधा न हो अर्थात् बीच में ही खाना-खाना बंद नहीं करना चाहिए अर्थात सम्पूर्ण भोजन करने पर ही उठना चाहिए।

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः।।[2]

अर्थात् पिष्टमय (आटे से निर्मित पदार्थ अथवा उड़द आदि की पीठी), चावल तथा चीउड़ा आदि का प्रयोग गुरु होने के कारण भोजन के बाद नहीं खाना चाहिए, यदि खाना ही हो तो भूख लगने पर मात्रा पूर्वक सेवन करना चाहिये।

उचित मात्रा में आहार निर्देश-

सम्यक्प्रयुक्तैभिषजा बलमग्नेः प्रवर्धते।
यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम्।।
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिरः।[3]

भोजन के न करने से भी जठराग्नि प्रदीप्त नहीं होती और न अधिक भोजन करने से ही अग्नि प्रदीप्त होती है। जिस प्रकार बाहरी आग में यदि लकड़ी बिल्कुल न डाली जाय तो आग स्वयं बुझ जायेगी एवं अग्नि बहुत कम मात्रा में हो और उसके ऊपर पर्याप्त लकड़ियाँ रख दी जायें तो भी आग नहीं जलेगी, अपितु वह बुझ

---

1. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-46, श्लोक-469, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-283
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-5, श्लोक-9, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-75
3. डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चरक संहिता, चिकित्सास्थानम्, अध्याय-15, श्लोक-213, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2022, ISBN : 978-93-81484-76-0, पृष्ठ-488

जायेगी। अतः भोजन का सर्वथा न करना या बहुत कर लेना ये दोनों ही प्रकार अग्नि की वृद्धि में बाधक होते हैं। सम मात्रा में किया हुआ सन्तुलित आहार अग्नि की सुरक्षा में समर्थ होता है। यदि चिकित्सक अग्नि के मन्द हो जाने पर उचित विधि से स्नेह, अन्न, पान, चूर्ण, अरिष्ट, सुरा, आसव का प्रयोग कराये तो जठराग्नि का बल (पाचनशक्ति) बढ़ जाता है। जिस प्रकार सागवान् लकड़ी की अग्नि बहुत समय तक स्थिर रहती है, उसी प्रकार स्नेह, अन्न, पान आदि के समुचित प्रयोग से जठराग्नि बहुत समय तक स्थिर रहती है।

आहार का महत्त्व-

अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्।।[1]

अन्न ही जीवन निर्वहन करने का श्रेष्ठ माध्यम हैं।

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसाञ्च,
स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः,
द्रव्याणि पुनः रोषधयः।।[2]

प्राणियों की जीवन-रक्षा का मूल कारण आहार ही है तथा शरीर के बल, वर्ण और ओज की रक्षा या वृद्धि में भी आहार ही कारण है। यह आहार षड्-रसात्मक या षड् रसाश्रयी होता है। रस द्रव्यों के आश्रित होते हैं। औषधियों को द्रव्य कहा जाता है।

एक पुरानी लोकोक्ति भी है- **'जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन'** तात्पर्य यह है कि आहार के साथ जुड़ी हुई विशेषताएँ न केवल शरीर को अपितु मन को भी प्रभावित करती हैं। चिंतन के प्रवाह में प्रभाव डालती हैं।

उपनिषदों में भी वर्णित है कि-

आहार शुद्धौ, सत्वशुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।[3]

---

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-25, श्लोक-40, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-353
2. कविराज डॉ. अम्बिकादत्तशास्त्री, सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-1, श्लोक-36, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2010, ISBN : 978-81-89798-19-2, पृष्ठ-10
3. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय-7, खण्ड-26, श्लोक संख्या-2, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-24, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ-758

अर्थात् आहार की शुद्धि के द्वारा अंत:करण एवं बाह्यकरण की शुद्धि सहजता से की जा सकती है तथा अंत:करण शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि भलीभांति कार्य करती है।

हठप्रदीपिका में कहा गया है-

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायण:।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा॥[1]

ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी और योग में लगा रहने वाला पुरुष एक वर्ष अभ्यास करने पर सिद्ध हो जाता है।

सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ होने पर भी उनके गुण, कर्म, स्वभाव एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्विक आहार का महत्व का वर्णन किया है-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय:।[2]

आहार भी सबको अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार (सत्व, रज, एवं तम) का प्रिय होता है।

आयु: सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना:।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विकप्रिया:॥[3]

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति इन सबको बढ़ाने वाले तथा रसयुक्त, स्निग्ध-चिकने, स्थिर शरीर में बहुत काल तक (सार रूप से) रहने वाले और हृदय को प्रिय लगने वाले आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन:।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा:॥[4]

---

1. स्वामी दिगम्बरजी, डॉ. पीताम्बर झा, हठप्रदीपिका, अध्याय-1, श्लोक-57, कैवल्यधाम, स्वामी कुवलयानन्द मार्ग, लोनावला-410403, पुणे, महाराष्ट्र, ISBN : 978-818-948-5122, पृष्ठ-28
2. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक संख्या-7, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-46, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ-577
3. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक संख्या-8, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-46, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ-577
4. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक संख्या-9, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-46, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ-578

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाह-कारक और दुःख, चिंता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजसिक पुरुष को प्रिय होता है।

यातयामं गतरसम् पूतिपर्युषितम् च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यम् भोजनम् तामसप्रियम्॥[1]

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है, तथा जो अपवित्र भी है, वह आहार तामसिक पुरुष को प्रिय होता है।

आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद्बुद्धिमान् हितसेवने॥[2]

जो पुरुष इस लोक एवं परलोक में अपना हित चाहता है उसे हितकर आहार एवं आचार (व्यवहार)के प्रति अत्यधिक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

ग्रहणी रोग की उत्पत्ति-

यो हि भुङ्क्ते विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान्।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं, वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ते॥[3]

जो मनुष्य जीभ के स्वाद के वश में होकर चंचलता से उचित आहार-विधि को छोड़कर भोजन करता है वह ग्रहणीदोष-जनित रोगों को शीघ्र प्राप्त करता है।

उपसंहार-

जब बात शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को स्वस्थ रखने की आती है तो उसमें आहार एवं जीवनचर्या की अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। योग एवं आयुर्वेद शास्त्र से हम जीवन जीने की कला का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

आहार के माध्यम से रोग का उपचार किया जाता है एवं रोग की संभावना को कम किया जाता है। लेकिन कई बार यही आहार प्राणियों के प्राण भी हर लेता है और संकट भी पैदा कर देता है। इसलिए सोच समझकर ही आहार का सेवन करना चाहिए।

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-17, श्लोक संख्या-10, संस्करण-2077, पुनर्मुद्रण-46, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ-579
2. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-7, श्लोक-60, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-120
3. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, चिकित्सास्थानम्, अध्याय-15, श्लोक-6, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-165-0 पृष्ठ-389

षड्त्रिंशतं सहस्त्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सताम्।।[1]

जो व्यक्ति नित्य हितकर भोजन करता है वह अनातुर होकर 100 वर्षों तक जीवन व्यतीत करता है तथा सज्जनों एवं जितेन्द्रिय पुरुषों द्वारा प्रशंसित होता है।

अतः उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणों से ये प्रमाणित होता है कि आहार महाऔषधि हैं। जिसके उचित प्रयोग से हम अनेकों समस्याओं का समाधान कर शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति करते हैं साथ ही साथ पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने के लिए सामर्थ्यवान हो जाते हैं।

✦✦✦

1. वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, चरक संहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय-27, श्लोक-348, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2009, ISBN : 978-81-7637-149-0, पृष्ठ-464

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (40-47) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

स्वामी दयानन्द के चिन्तन में राष्ट्रवाद

-डॉ. कामना जैन*

सार - संक्षेप

भारत के लिए यह अत्यंत दुर्भाग्य का विषय है कि विविध कारणों से इसे लम्बी गुलामी के दौर का सामना करना पड़ा। भीषण अत्याचारों से उत्पन्न भय ने भारतीय राष्ट्रवादी भावना एवं स्वर्णिम इतिहास को शनैः शनैः विस्मृत कर दिया और परिस्थितियों के कारण भारतीय नागरिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि समस्त क्षेत्रों में संकीर्ण औपनिवेशिक मानसिकता से रूढ़िग्रस्त होते चले गए। इन विपरीत परिस्थितियों में 19वीं शताब्दी भारतीय पुनर्जागरण काल की साक्ष्य बनी। भारत में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 की क्रांति से राष्ट्रवाद का ऐसा बिगुल बजा कि विविध क्षेत्रों में क्रान्तियाँ आयीं। महान् समाज सुधारकों द्वारा धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलन चलाए गए। इस में भारत माँ के कर्मठ सपूत आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी महान् योगदान रहा। उन्होंने भारत में न केवल संकीर्ण सामाजिक धार्मिक विचारधारा का खण्डन किया वरन् राष्ट्रवादी भावना जागृत करने का भी भगीरथ प्रयास सफलता पूर्वक किया। आजादी के अमृत महोत्सव को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से स्वामी दयानन्द के गूढ़ राष्ट्रवादी चिन्तन को प्रकाश में लाने का प्रयास किया जा रहा है। शोध पत्र पूर्णतया द्वितीयक स्रोतों यथा पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि पर आधारित है।

मुख्य बिंदुः- धार्मिक, सामाजिक, सुधार, राष्ट्रवाद, आर्यसमाज, वैदिक संस्कृति।

प्रस्तावना :-

वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् एवं आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती आधुनिक भारत के ऐसे प्रमुख समाज सुधारक हैं, जिन्होंने हिन्दु समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक अंधविश्वासों पर प्रहार कर प्राचीन वैदिक संस्कृति

* एसो. प्रो., राजनीति विज्ञान विभाग, एस.एस.डी. गर्ल्स (पी.जी.), कॉलेज, रुड़की, उत्तराखण्ड।

की पुनर्स्थापना का महान् कार्य किया। वेदों की तर्कसंगत एवं सरलीकृत व्याख्या करके साधारण जन को *"वेदों की ओर लौटो"* की प्रेरणा दी। सार्वजनिक रूप में स्वामी जी ने सीधे सीधे राजनीति एवं भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रियता से भाग नहीं लिया, किन्तु वे भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति पूर्णतया जागरूक थे और भारत में अखण्ड, स्वाधीन तथा निर्भय शासन के अभाव को देखकर अत्यंत दु:खी थे। वे 19वीं शताब्दी के इस प्रसिद्ध नारे के अनुयायी थे–

"सुशासन चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता।"[1] स्वामी दयानन्द का कार्यक्षेत्र अलग था। उन्होंने वेदों को समस्त ज्ञान का स्त्रोत बताते हुए भारतीयों के सुप्त गौरव को जगाकर आत्म विश्वास से परिपूर्ण किया। साथ ही वैदिक संस्कृति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक प्रचार प्रसार द्वारा भारतीय राष्ट्रवादी स्वाभिमान को मजबूत और प्रशस्त किया।

राष्ट्रवाद से तात्पर्य :-

'राष्ट्र' एक मूल अवस्था है और 'राष्ट्रवाद' उस अवस्था की व्यवहारिक सार्थकता है। राष्ट्रवाद एक भावनात्मक अवधारणा है जो कि राष्ट्र के प्रति उसके नागरिकों की सर्वोच्च भक्ति को प्रदर्शित करती है, जिसका सम्बन्ध धर्म, संस्कृति, पौराणिक इतिहास, राजनीतिक संगठन (भक्ति) आदि के प्रति सामूहिकता की भावना से जुड़ा होता है। इसलिए वैदिक कालीन भारत की प्रार्थनाओं में समस्त जन, राष्ट्र एवं विश्व के कल्याण की कामना की जाती थी। राष्ट्रवाद का स्वतंत्रता से गहरा सम्बन्ध है। इसका विकास तभी माना जा सकता है जब मनुष्य में सभी सामाजिक, प्राकृतिक एवं स्वतंत्र राजनीतिक जीवन की इच्छा जागृत हो जाती है।[2] शताब्दियों लंबी गुलामी के भीषण अत्याचारों एवं ब्रिटिश हुकूमत द्वारा प्रचारित धर्म, संस्कृति, शिक्षा के विरुद्ध भारत में ऐसा वर्ग उभर रहा था जो पाश्चात्य संस्कृति की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। वह भारत की प्राचीन परम्परा से आधुनिक राष्ट्रवाद के प्रकाश की प्रेरणा लेना चाहता था और कहता था कि यूरोप को भारतीय अध्यात्मवाद से बहुत कुछ सीखना है।[3] पर उससे पूर्व भारतीय समाज में धार्मिक मान्यताओं पर आधारित सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों का तर्क, विज्ञान, मानवता आदि के द्वारा खंडन कर जनजागृति लानी होगी, क्योंकि 'पुनर्जागरण के बिना कोई

---

1. वी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 2000, पृ. 43
2. वी.पी. वर्मा, राजनीति और दर्शन, बिहार राष्ट्र भाषा, परिषद्, पटना 1956 पृ. 217
3. बी.एल.ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस.चाँद, 2005, पृ. 270

धर्म सुधार संभव नहीं। (हीगल)'[1] भारत में 19वीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलन की अन्तश्चेतना वस्तुतः राष्ट्रीय थी। लगभग सभी सामाजिक कुरीतियाँ धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थी, इसलिए धर्म को सुधारे बिना स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र की कल्पना भी संभव नहीं थी। इस प्रकार भारत में पुनर्जागरण काल एक सामाजिक, धार्मिक क्रांति के साथ-साथ राष्ट्रवाद का प्रतीक बन गया, जिसने भारतीयों के अन्दर इसके स्वर्णमयी इतिहास की विस्मृत चेतना एवं खोए राष्ट्रीय आत्म सम्मान को जागृत कर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। इस कार्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती की भूमिका अत्यन्त सक्रिय रही। भारत में पाश्चात्य सभ्यता के संक्रमण काल एवं रूढ़िग्रस्त समाज को स्वामी दयानन्द ने ना केवल अपने विचारों से झकझोरा वरन् जन मानस की आत्मा को प्रकाशित किया कि 'वेद' समस्त ज्ञान के स्त्रोत हैं।[2]

स्वामी दयानन्द के चिन्तन में राष्ट्रवाद :-

स्वामी जी ने अपने विचारों द्वारा राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए दृढ़ आधार भूमि तैयार की जिस समय ब्रिटिश साम्राज्य देश के अंदर पूरी मजबूती से जड़ें जमा रहा था, उस समय उन्होंने स्वराज का संदेश दिया।[3] स्वामी दयानन्द की रचनाओं में प्रमुखतया 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' के विशद् अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट है कि उनका समस्त चिन्तन और उनके कार्य देशभक्ति और भारतीय राष्ट्रवाद के साथ जुड़े हुए थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में देश का नेतृत्व भले ही ना किया हो लेकिन उन्होंने अपने चिन्तन और कार्यों से स्वाधीनता की नैतिक और बौद्धिक नींव तैयार की।[4]

उनके सार्वजनिक जीवनकाल (1864-83) में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लौह शासन में था। 1845 में जब उन्होंने घर छोड़ा तब पंजाब, सिंध और मध्य भारत के कुछ भाग स्वतन्त्र थे किन्तु 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता के फलस्वरूप अंग्रेजी शासन सर्वत्र सुदृढ़ हो गया। इसके अतिरिक्त ईसाई सभ्यता देश की पुरातन संस्कृति पर प्रहार कर रही थी। ऐसे में दयानन्द हिन्दू पुनरुत्थानवाद के आक्रामक समर्थक के रूप में प्रकट हुए।[5] स्वामी जी का विचार था कि कोई भी

---

1. उपरोक्त
2. विजेन्द्र सिंह, भारत में राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण, द जनरल ऑफ मेरठ युनिवर्सिटी, वॉल्यूम 16, अंक 8, 2010, पृ. 163
3. कुमुद शर्मा, भारतीय राजनीतिक विचारक, अनु बुक्स मेरठ, 1990, पृ. 238
4. पुखराज जैन, भारतीय राजनीतिक विचारक, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 1997, पृ. 126
5. वी.पी. वर्मा, राजनीति और दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 39

राष्ट्र केवल तभी उन्नति कर सकता है जब वह अपने विकास के लिए अपनी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर का सहारा ले तथा अपने प्राचीन मूल्यों को महत्व प्रदान करे। उनका उद्देश्य भारत की जनता के हृदय में अपनी जाति, अपने अतीत और अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति अभिमान उत्पन्न करना था।[1] पर इसके साथ ही देश में व्याप्त रूढ़िवादी कुप्रथाओं एवं अन्धविश्वासों के निवारण को उन्होंने प्रथम आवश्यकता माना अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्वामी जी ने निम्न 4 सोपान[2] अपनाए:-

(क) असत्य और पाखण्ड का खण्डन :- वेदों से प्रमाण देकर असत्य परिकल्पनाओं का प्रबल खण्डन किया।

(ख) शास्त्रार्थ एवं प्रवचन :- सत्य के ग्रहण एवं असत्य के परित्याग हेतु विद्वत् मण्डली के साथ शास्त्रार्थ पद्धति को अपनाया। अपने तर्कों द्वारा सभी विद्वानों को निरुत्तर किया। साथ ही अपनी यात्राओं में प्रातः एवं सांय साधारणजन को प्रवचन देकर प्राचीन वैदिक संस्कृति की विशेषताओं, इतिहास और सदाचरण पर प्रकाश डाला।

(ग) सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ प्रणयन :- उच्च कोटि के प्रतिभा सम्पन्न स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कृति साहित्य के विशाल वाङ्मय वेद, दर्शन आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन्हें सरलीकृत करते हुए जन-जन के लिए ग्राह्य बनाया। इनके प्रमुख ग्रंथ- सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, संस्कार विधि, आर्याभिविनय, पंच महायज्ञ विधि, गौ करुणा निधि आदि हैं।

(घ) आर्य समाज की स्थापना :- परोपकारी वैदिक धर्म एवं साहित्य के प्रचार प्रसार हेतु आर्य समाज की स्थापना की।

व्यक्ति का नैतिक शुद्धीकरण प्रथम आवश्यकता :-

स्वामी दयानन्द भारतीय जनमानस में आयी चारित्रिक दुर्बलताओं को देश की दुर्दशा का कारण मानते थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि, "भारत के पतन के मुख्य कारण हैं- पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, बाल विवाह, इंद्रिय परायणता, असत्यता, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ।" कर्म की सफलता के लिए आदर्श एवं समर्पित व्यक्तित्व का होना आवश्यक है। यह तथ्य स्वीकारते हुए स्वामी जी ने सामाजिक एवं राष्ट्रीय

---

1. कुमुद शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 234
2. कुमुदिनी श्रीवास्तव, स्वामी दयानन्द का दर्शन तथा धर्म, अनुपम प्रकाशन पटना, 1982, पृ. 17 से 19

पुनरुद्धार हेतु वैदिक संस्कृति को अंगीकृत कर व्यक्ति के नैतिक शुद्धीकरण तथा सामाजिक पुनर्निमाण की आवश्यकता पर बल दिया। उनका कथन था, "जो पक्षपात रहित है, जो न्याय और समता सिखाता है और संक्षिप्त में जो वेदों में निहित ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है उसी को मैं धर्म कहता हूँ।"[1]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने धार्मिकता के आधार पर चारित्रिक शुद्धता एवं राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास किया। जनमानस को प्रमाद, आलस्य, भाग्यार्पण त्याग कर उत्साह पराक्रम एवं उत्तरदायित्व की भावना के वरण को प्रोत्साहित किया। उनका विश्वास था कि एक प्राणवान और गतिशील समाज ही सुदृढ़ राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्र राजनैतिक व्यवस्था का आधार हो सकता है। अस्पृश्यता एवं पृथकता की भावनाओं ने भारतीय समाज को टुकड़ों में बाँट रखा था, इसलिए वह बाहरी शत्रु के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने में सफल रहा। उनके अनुसार वैदिक सामाजिक व्यवस्था में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि हिन्दू जाति को जीवित रहना है तो छुआछूत की इस अमानवीय प्रथा का उन्मूलन होना ही चाहिए। इस प्रकार स्वामी जी ने अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए महात्मा गाँधी से भी पहले आवाज उठायी थी।[2]

आर्य समाज की स्थापना :-

स्वामी जी ने अनुभव किया कि जिन लक्ष्यों की पूर्ति वह करना चाहते थे उसके लिए संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। इसलिए उन्होंने 10 अप्रैल 1875 को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना एवं उसके माध्यम से अपने विचारों को मूर्त रूप देने का कार्य आरम्भ किया। 1877 में लाहौर में इसके संविधान को अंतिम रूप दिया गया।[3] इसके बाद संपूर्ण उत्तरी भारत में विशेषकर पंजाब, यू.पी., राजपूताना तथा गुजरात में आर्य समाजों का एक जाल - सा बिछ गया। उन्होंने बंगाल, बिहार तथा मध्य प्रदेश में भी आर्य समाजों की स्थापना का प्रयत्न किया।[4] आर्य समाज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनर्स्थापना कर हिन्दू समाज में व्याप्त झूठे धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेंकना था। स्वामी जी का उद्देश्य था कि भारत को धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय रूप से एक कर दिया जाए और आर्य धर्म ही देश का समान धर्म हो।[5] समय के

1. वी.पी. वर्मा, राजनीति और दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 41
2. कुमुद शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 236
3. आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा, खंड-5, इग्नू प्रकाशन, 2003, पृ. 17
4. कुमुद शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 244
5. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 274

साथ 'आर्य समाज' एक शक्तिशाली संस्था के रूप में उभरा, जिसने देश में स्वतन्त्रता सेनानियों की एक समूची पीढ़ी का निर्माण किया तथा स्वतन्त्रता संग्राम के लिए अनेक योद्धा प्रदान किए।[1] उसने समस्त देशवासियों में देशभक्ति, सामर्थ्य, उत्साह, अन्याय का प्रतिकार, शक्ति तथा स्वतन्त्रता की भावनायें जागृत कर जनसाधारण की राष्ट्रवादी भावनाओं में नवजीवन फूँका।

स्वामी दयानन्द के शरीरान्त के उपरान्त भी आर्य समाज ने वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रचार जारी रखा। उन्होंने वेदों में अन्तर्निहित शक्ति, शुद्धता, स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्भरता का संदेश जिस तीव्रता और उग्रता के साथ घर-घर में फैलाया उससे जनता में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में आक्रामक चेतना जागृत हुई। यद्यपि आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं थी और उसने बड़ी सावधानी के साथ अपने को क्रांतिकारी तथा राजद्रोहात्मक कार्यवाहियों से दूर रखा, फिर भी भारतीयों के मन में देशभक्ति पूर्ण राष्ट्रवाद की भावना को जागृत करने में उसने अग्रदूत का काम किया।[2]

राष्ट्रवाद एवं हिन्दी भाषा :-

स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति की सर्वोच्चता के साथ साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनाने को भी प्रोत्साहन देकर राष्ट्रवाद के उत्थान में योग दिया। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान्, संस्कृत के मर्मज्ञ एवं जन्म से गुजराती होने पर भी उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी में लिखा। वेदों का गूढ़ ज्ञान साधारण जन तक विस्तारित हो, इसके लिए वेदों का भाष्य भी हिंदी में ही लिखा। जिस प्रकार पुनर्जागरण के समय इतावली, जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं के विकास में यूरोप में राष्ट्रवाद के उत्थान को उत्तेजना मिली उसी प्रकार दयानन्द तथा उनके शिष्यों की रचनाओं तथा उपदेशों से भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में भारी प्रोत्साहन मिला।[3]

स्वामी जी राष्ट्र के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं का आग्रह घातक समझते थे। देश, भाषा और संस्कृति की एकता राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करती है। अतः राष्ट्र की एकता के लिए एक सम्पर्क की भाषा होनी चाहिए। इसके लिए हिंदी भाषा को उन्होंने भारत के लिए चुना। उसे देवनागरी या आर्यभाषा नाम दिया। इस सम्बन्ध में एक संस्मरण उल्लिखित है- 1882 में उदयपुर में पंडित विष्णुलाल मोहन लाल पण्ड्या ने पूछा, "भगवन् भारत का पूर्णहित कब होगा? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी?"

---

1. वी.पी. वर्मा, राजनीति और दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 36
2. उपरोक्त पृ. 44
3. उपरोक्त पृ. 44

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्णहित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाए वहाँ सागर में नदियों की भाँति सारे सुख एक-एक- करके प्रवेश करने लगते हैं।[1] मुम्बई में आर्यभाषा का पुस्तकालय स्थापित करना, आर्य भाषा में ही 'आर्यप्रकाश' नामक पत्र निकालना, लाहौर के संगठन संस्कार में उपनियम बनाकर आर्य समाज के सभी सदस्यों के लिए आर्य भाषा का ज्ञान अनिवार्य करना आदि प्रमाण हैं कि आर्यभाषा को राष्ट्रभाषा का रूप देने वाले प्रथम पुरुष स्वामी जी ही थे।[2]

यह सत्य है कि जब राष्ट्रवासियों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान का भाव होगा। तभी वे अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर सकते हैं। देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण स्वामी जी ने भारत की निर्धनता दूर करने के निमित्त स्वदेशी माल एवं खादी के प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया। स्वामी जी स्वयम् मोटा देशी वस्त्र पहना करते थे और उन्होंने स्वदेशी का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति का एक धार्मिक कर्तव्य बतलाया। उन्होने देशी उद्योगों के विकास की आवश्यकता पर भी बल दिया। स्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेशी के माध्यम से वे स्वराज्य के सन्देशवाहक बन गए।[3]

स्वामी जी की देश भक्ति एवं स्वतन्त्रता के प्रति उत्कट अभिलाषा स्पष्ट झलकती है, जब "ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका" में वे कहते हैं-

यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्यमिति।

जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो। देश की फूट पर क्षोभ व्यक्त करते हुए उन्होंने समझाया, "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" विदेशी राज्य के दुष्परिणामों से जनता को सावधान करते हुए उन्होंने कहा, "परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।"[4] अतः समस्त भारतीय जनता को आपसी मतभेद एवं संकीर्ण विचारों को मिटाकर राष्ट्र की स्वतन्त्रता हेतु एकजुट होकर प्रयास करना होगा।

---

1. इन्द्र विद्यावाचस्पति, महर्षि दयानन्द, पृ. 139 पर *श्रीमद्दयानन्द प्रकाश* से उद्घृत्, संकलित, कुमुदिनी श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृ. 175
2. वेदप्रकाश, महर्षि दयानन्द, वैदिक धर्म संस्थान, मेरठ 2011, पृ. 105
3. उपरोक्त पृ. 129
4. श्री निवास शास्त्री, दयानन्द दर्शन : एक अध्ययन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, 1977 पृ. 126-127

निष्कर्ष :- स्वामी जी ने भारतीयों के सुप्त गौरव को जागृत कर उन्हें आत्म विश्वास से तो परिपूर्ण किया ही साथ में पुरुषार्थ की प्रेरणा देकर राष्ट्रवाद की भावना को भी प्रशस्त किया। उनका उद्देश्य भारत की जनता में अपनी जाति, अपने अतीत और अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति अभिमान उत्पन्न करना था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्पराओं एवं पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर मानवहित तथा राष्ट्र निर्माण की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित युगद्रष्टा स्वामी दयानन्द को भारतीय जनमानस में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न करने का श्रेय जाता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (48-54) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

श्रीअरविन्द की दृष्टि में परमतत्त्व विवेचन

-चन्द्रगुप्त*

उपनिषद् के ऋषियों का सिद्धान्त उस सत्ता को स्वीकार करता है जो- अज्ञेय, कालातीत और नामरहित होते हुए भी अनेक नामों से विभूषित है, जो सब वस्तुओं के पीछे और चारों ओर विद्यमान है, जो साधारण मन द्वारा ग्राह्य नहीं है। निर्गुण रूप में वह तत्- है, एकमेव सत्ता (एकं सत्) है, अपरिमेय और अवर्णनीय है। वह लोकों का निर्माता और सब वस्तुओं का स्वामी, उत्पादक, सत्, चित्, आनन्द है, लोकों और उनके निवासियों का माता और पिता है।

सम्पूर्ण गतिशील एवं विविधतापूर्ण बाह्य दृश्यजगत् के पीछे परात्पर 'एकात्मता', 'एकत्व' तथा 'स्थिरता' की धारणा ही उपनिषदों का आधारभूत सिद्धान्त है। यही सारी भारतीय तत्वमीमांसा की धुरी है तथा हमारे आध्यात्मिक अनुभवों का सार एवं उद्देश्य है। अपने चारों ओर के दृश्य जगत् को देखते हुए स्थिरता और एकत्व सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होते हैं। सभी कुछ केवल गतिशील तथा परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु का कोई पूरक विरोधी, समायोजक एवं वियोजक अंग है। तथा सब कुछ निरंतर बदलता रहता है एवं अपनी सापेक्ष अवस्थितियों तथा समीपताओं को पुनर्व्यवस्थित करता रहता है। फिर भी, यदि कुछ सुनिश्चित है तो वह यह कि इस सम्पूर्ण परिवर्तन तथा गति का सार सर्वथा स्थिर, निश्चित और अपरिवर्त्य है, कि समग्र जड तथा चेतन वस्तुओं की विषमतापूर्ण बहुलता के मूल में समरूप एकात्मता है।

यदि हम दार्शनिक विचार जगत् के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि दार्शनिकों ने परम तत्व की खोज अनेक मार्गों से की है। उनमें से तीन प्रधान पथ आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक हैं।

आधिभौतिक विचार पद्धति

छान्दोग्योपनिषद् में एक प्रसंग आता है जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि उपकोसल नामक एक छात्र ज्ञान सम्पादन के लिये अपने गुरु सत्यकाम जाबाल के यहाँ बारह वर्ष तक रहा और बडे श्रम और निष्ठा से उनकी सेवा की।[1] यद्यपि

* शोध छात्र, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

1. छान्दोग्योपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, चतुर्थ प्रपाठक दसवां खण्ड से चौदहवें खण्ड तक, पृ. 459-466.

उसके ब्रह्मचर्याश्रम की सामान्य अवधि समाप्त हो गई थी किन्तु उसके गुरु ने उसे घर जाने की आज्ञा न दी। उसकी गुरुमाता ने ऋषि से पूछा कि जब उन्होनें सब शिष्यों को आज्ञा दे दी तो उसे क्यों नहीं जाने देते। एक बार जब उपकोसल वन में गया था तो तीन होमाग्नियाँ जिनका उसने गुरु आश्रम में एक निष्ठ भाव से सेवन किया था मूर्त रूप में उसके सामने प्रकट हुई। पहली होमाग्नि गार्हपत्य ने उससे कहा कि परम सत्य सूर्य में पाया जा सकता है। दूसरी होमाग्नि अन्नवाहार्य-पचन ने कहा कि परम सत्य चन्द्रमा में है। तीसरी होमाग्नि आहवनीय ने कहा कि परम सत्य विद्युत् में है। उस समय के लिए तो उपकोसल को उन तीन होमाग्नियों के उत्तर से संतोष हो गया। जब वह आश्रम में पहुंचा तो उसके गुरु ने पूछा कि उसके मुख पर आत्म प्रकाश की आभा कैसे दिखाई दे रही है। उपकोसल ने गुरु से सारा वृत्तान्त कह दिया कि किस प्रकार यदि उसके मुख पर कोई दिव्य आभा थी तो उसका कारण उन तीन अग्नियाँ का ज्ञानोपदेश हो सकता था। उसक गुरु ने कहा कि उन तीन अग्नियाँ द्वारा दिये गये उपदेश से उनका दिया हुआ ज्ञान श्रेष्ठ है। अन्त में उन्होंने अपने शिष्य को यह ज्ञानोपदेश दिया कि 'परम सत्य न सूर्य में है, न चन्द्रमा में, न विद्युत् में, वरन् मनुष्य के नयन में, प्रतिबिम्बित पुरुष में है। सत्यकाम जाबाल ने कहा कि "यह प्रतिबिम्ब ही आत्मा है, यही अमृत, अभय और ब्रह्म है। यह प्रतिबिम्ब समस्त सुखों का देनेवाला है, यह पुरुष समस्त लोकों से अधिक तेज युक्त है जो यह जानता है कि वह समस्त लोकों से अधिक तेज युक्त है, स्वयं समस्त लोकों से अधिक तेज युक्त हो जाता है"। यह अवतरण स्पष्ट रूप से आधिभौतिक उपादानों के आधिदैहिक उपादान की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार छन्दोग्योपनिषद् के एक अन्य अवतरण में हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार वह प्रकाश "जो अतींद्रिय आकाश में स्वर्ग में प्रतिभासित होता है, वही प्रकाश है जो मनुष्य के अन्तस् में वर्तमान है और जिसका स्पर्श जन्य प्रमाण हमें तब मिलता है जब हम शरीर में ऊष्णता का अनुभव करते हैं अथवा श्रवण जन्य प्रमाण यह है कि कान मूँद लेने पर भी हम घन गर्जन का घोष अथवा बैल का नाद अथवा प्रज्वलित अग्नि का शब्द सुन सकते हैं।[1] जो परम सत्य को शरीर संस्थित मानकर उसका ध्यान करता है उसे ख्याति और कीर्ति मिलती है। इसी भाव की व्यंजना मैत्री उपनिषद् में भी की गई है जहाँ उपनिषद्कार कान मूँद लेने पर भी सुनाई देने वाली ध्वनि के रूप में मनुष्य के अन्तर्निहित सत्य का वर्णन करता है।

कठोपनिषद् में प्रश्न आता है कि- "क्या सूर्य अपनी ज्योति से प्रकाशित है? क्या चन्द्र और नक्षत्र अपनी ज्योति से प्रकशित है? क्या विद्युत् अपनी ज्योति से

---

1. छान्दोग्योपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, चतुर्थ प्रपाठक पंद्रहवं खण्ड, पृ. 469-472.

दीप्त होती है? क्षुद्र अग्नि की तो बात की क्या है, जो स्पष्टतया अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य की ऋणी है"।[1] क्या हम यह कहेंगे कि ये समस्त प्रकाशमान वस्तुयें स्वयं प्रकाशी हैं अथवा हमें यह मानना चाहिये कि वे अपनी ज्योति किसी मूल आधार भूत शाश्वत सत्ता से ग्रहण करते हैं, जो उन सबके पीछे वर्त्तमान है, तथा जिसकी ज्योति जगत् के प्रकाश पिण्डों को प्रकाशित करती है? "उसके सामने सूर्य प्रकाशित नहीं होता, उसके सामने चन्द्रमा और नक्षत्र प्रकाशित नहीं होते, उसके सामने विद्युत् प्रदीप्त नहीं होती, फिर इस पार्थिव अग्नि का तो कहना ही क्या? पहले ब्रह्म के ही प्रकाशित होने पर, तत्पश्चात् ये समस्त वस्तुयें प्रकाशित होती है। उसके ही प्रकाश से सब प्रकाशमान होते हैं।[2]

आधिदैविक विचार पद्धति

उपनिषद्कारों ने इस प्रश्न से आरम्भ किया है कि विश्व में कितने देवताओं की सत्ता माननी चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् के विदग्ध शाकल्य और याज्ञवल्क्य के सम्वाद में हमें बतलाया गया है कि शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि संसार में कितने देवताओं की सत्ता माननी चाहिये। याज्ञवल्क्य ने पहले तो इस प्रश्न का उत्तर दिया कि "तीन सौ तीन",[3] किन्तु शीघ्र ही कहा कि "तीन हजार तीन"। इन उत्तरों से संतुष्ट न होकर विदग्ध शाकल्य ने फिर पूछा कि देवता कितने हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा कि "देवता तैंतीस हैं"[4]। शाकल्य को इससे भी सन्तोष न हुआ उसने फिर पूछा, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "देवता छः है"[5]। शाकल्य के बार बार पूछने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "देवता तीन, दो अथवा डेढ हैं, अन्त में केवल एक ईश्वर है, जो अद्वितीय है।[6] याज्ञवल्क्य केवल शाकल्य की अन्तर्दृष्टि की परीक्षा कर रहे थे कि देखें वह पहले दिये गये उत्तरों से संतुष्ट होता है अथवा नहीं और जब शाकल्य संतुष्ट नहीं हुआ तो अन्त में उन्होंने कह दिया कि ईश्वर एक है। पारस्परिक सहमति से शाकल्य और याज्ञवल्क्य इसी परिणाम पर पहुंचे कि

---

1. कठोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पंचम वल्ली, श्लोक 15. पृ. 99.
2. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो अयमग्निः।
   तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (केन एवं अन्यान्य उपनिषद्, कठोपनिषद्, 2.2.15)
3. त्रयश्च त्री च सहता त्रयश्च तरी च सहस्रेत्योमिति होवाच। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.9.1
4. त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.9.1
5. षडित्योमिति होवाच बृहदारण्यकोपनिषद् 3.9.1
6. त्रय इत्योमिति होवाच। द्वौ इत्योमिति होवाच। अध्यर्ध इत्योमिति होवाच द्य एक इत्योमिति होवाच। बृहदारण्यकोपनिषद् 3.9.1

केवल वही विश्व का ईश्वर है जिसका पृथ्वी शरीर है, अग्नि दृष्टि है, प्रकाश मन है, जो आत्माओं का परम परायण है।[1]

आध्यात्मिक विचार पद्धति

बृहदारण्यकोपनिषद् में राजा जनक और याज्ञवल्क्य का सम्वाद है कि एक बार याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से पूछा कि उन्होंने परम सत्य के विषय में कौन कौन से आध्यत्मिक सिद्धान्त सुने है।[2] जनक बडे जिज्ञासु तथा दार्शनिक वृत्ति के राजा थे। इसलिये वे अनेक ऋषियों से प्राप्त परम सत्य विषयक सभी सिद्धान्तों को जानते थे। अतः उन्होंने याज्ञवल्क्य को भिन्न तत्व ज्ञानियों के मत सुनाना आरम्भ किया। राजा जनक ने कहा कि "जीत्वन शैलिनी ने मुझे बतलाया कि वाक् परम सत्य है"।[3] याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "यह केवल आंशिक सत्य है" तब राजा जनक ने कहा कि "उदंक शौल्यवान ने मुझे बतलाया कि "प्राण परम सत्य है"।[4] याज्ञवल्क्य ने कहा कि "वह आंशिक सत्य है"। राजा जनक ने कहा कि "वर्कुवार्ष्ण ने मुझे बतलाया कि "नेत्र परम सत्य है"।[5] याज्ञवल्क्य ने कहा वह भी आंशिक सत्य है। राजा जनक ने कहा कि "गर्दभी विपीत भारद्वाज ने मुझे बतलाया कि "श्रवण परम सत्य है"।[6] सत्यकाम जाबाली ने मुझे बतलाया कि "मन परम सत्य है"।[7] विदग्ध शाकल्य ने मुझे बतलाया कि "हृदय परम सत्य है"।[8] याज्ञवल्क्य ने सबके लिये यही कहा कि ये सब आंशिक सत्य है। परम सत्य के विविध आधिदैहिक और आध्यात्मिक अधिष्ठानों के विषय में उपनिषदीय तत्व ज्ञानियों के भिन्न भिन्न मतों की यह गणना तथा याज्ञवल्क्य के क्रमशः सबके खंडन में यह भाव अभिप्रेत है कि परम सत्य केवल आत्मा में ही पाया जा सकता है, संयोगिक अधिष्ठानों में नहीं जो आत्मा के आवरण मात्र है। इसी कल्पना का विकास केनोपनिषद् में किया गया है जहाँ यह बतलाया गया है कि "आत्मा को श्रवण का भी श्रवण, मन का भी मन, वाक् का भी वाक्, नेत्र का भी नेत्र मानना चाहिये"।[9] जो इस रूप में आत्मा को

1. बृहदारण्यकोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, तृतीय अध्याय, नौवां ब्राह्मण. पृ 825
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, चतुर्थ अध्याय, पहला ब्राह्मण.पृ 848.
3. जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति.....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.2
4. अब्रवीन्मे उदंकः शौल्बायनः प्राणो वे ब्रह्मेति.....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.3
5. अब्रवीन्मे बर्कुर्वाष्णश्च चक्षुर्वै ब्रह्मेति .....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.4
6. अब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति .....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.5
7. अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मति .....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.6
8. अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति .....। बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.7
9. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति। केनोपनिषद् 1.2

पहचानते हैं वे संसार से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं"। जिसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्त प्रदान करती है,[1] उसी को परम सत्य समझो, उसे नहीं जिसकी लोग व्यर्थ उपासना करते हैं। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है,[2] किन्तु जो मन की कल्पना करती है, उसी को परम सत्य समझो। जिसे देखने में नेत्र असमर्थ है,[3] किन्तु जिसके द्वारा हम नेत्रों को देखते हैं, वही परम सत्य है। जिसे श्रवण सुन नहीं सकते किन्तु जो हमें श्रवण ज्ञान की शक्ति प्रदान करती है,[4] वही परम सत्य है। जिसे प्राण श्वसित अथवा उच्छ्वसित करने की शक्ति नहीं रखते, किन्तु जो प्राणों को श्वासोच्छ्वास की शक्ति प्रदान करती है,[5] उसी को परम सत्य समझो"। इस अवतरण में जाना कि परम आत्मा को अन्तरतम सत्ता मानना चाहिये।

श्रीअरविन्द परम आत्मा के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते है कि परमात्मा 'विशुद्ध सद्ब्रह्म' है, परमोच्च 'अस्तित्व' सत् है। वह अस्तित्व है क्योंकि वही एकमात्र है। उसके अलावा कुछ नहीं है जिसकी कोई आत्यन्तिक सत्यता हो अथवा ऐसी कोई सता हो जो उसकी आत्माभिव्यक्ति से स्वतन्त्र हो। और वह परमोच्च अस्तित्व है, कारण, एकमात्र वही है और वास्तव में अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है। अतः निश्चित रूप से वह स्वयं से, स्वयं में तथा स्वयं के लिये ही विद्यमान होना चहिये। उसके अस्तित्व का कोई कारण नहीं हो सकता, न ही उसके अस्तित्व का उद्देश्य हो सकता है, न ही उसमें कोई वृद्धि अथवा ह्रास हो सकता है, क्योंकि वृद्धि बाहर से कुछ जोड़ने पर ही हो सकती है तथा ह्रास उसमें से किछ कम होकर बाहर किसी पदार्थ में चले जाने से, और ब्रह्म के बाहर कुछ है ही नहीं। किसी भी प्रकार उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा हो तो वह काल तथा कारणत्व के अधीन हो जायेगा; न ही उसके खण्ड हो सकते हैं, क्योंकि वह देश के विधान के अधीन हो जायेगा। वह देश, काल तथा कारणत्व की धारणाओं से परे है, जिन्हें वह दृश्यरूप में अभिव्यक्ति की आवश्यक अवस्थाओं के रूप में रचता है परन्तु वे अपने ही उद्गम को प्रतिबाधित नहीं कर सकतीं। अतएव परब्रह्म है परमोच्च अस्तित्व।

परब्रह्म है शुद्ध बोध, परम चेतना। वह चित् है। उपनिषद् हमें बताते हैं कि ब्रह्म कोई अन्धी वैश्व शक्ति नहीं है जो अपने स्वभाववशात् यान्त्रिक रूप में कार्यरत

1. केनोपनिषद् 1.4
2. केनोपनिषद् 1.5
3. केनोपनिषद् 1.6
4. केनोपनिषद् 1.7
5. केनोपनिषद् 1.8

हो, न ही वह शक्ति का कोई अचेतन कारण है, वह सचेतन है बल्कि स्वयं चेतना, चित् है साथ ही सत् भी है। इससे यह सीधा अर्थनिकलता है कि सत् तथा चित् वस्तुतः एक ही है।

अन्ततः परब्रह्म शुद्ध आनन्द परमोच्च आनन्द है। जिस प्रकार 'सत्' और 'चित्' समान हैं उसी प्रकार 'चित्' 'आनन्द' से भिन्न नहीं है, ठीक जिस प्रकार 'सत्' चित् शक्ति से उसे अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'सचेतन सत्ता' आनन्द है तथा उसे 'आनन्द से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः यही उपनिषदों की त्रयी- 'परमोच्च सत्' है, इसी कारण वह 'परमोच्च चित्' है, और इसीलिये वह 'परमोच्च आनन्द' है।[1]

पुनरपि दूसरी त्रयी है- "सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्"। यह त्रयी प्रथम से भिन्न नहीं है केवल उसकी वस्तुपरक अभिव्यक्ति है। ब्रह्म 'सत्यम्' है, 'सत्य' अथवा वास्तविकता है क्योंकि सत्य अथवा वास्तविकता जगत् की वस्तुपरक दृष्टिकोण से देखकर बनायी गयी व्यक्तिगत धारणा मात्र है। केवल वह जो मौलिकरूप से विद्यमान है वही वास्तविक और सत्य है तथा ब्रह्म परम अस्तित्व होने के नाते परम सत्य भी है तथा परम वास्तविक भी। अन्य अभी वस्तुएँ सापेक्ष रूप में ही सत्य हैं, वे हर तरह से मिथ्या भी नहीं है क्योंकि वे एक 'सत्य'का प्रातिभासिकरूपहैं जो अस्थायी है अतः स्वयंमें परम सत्य नहीं हैं।

ब्रह्म "ज्ञानम्" भी है कारन ज्ञान चिच्छक्ति की वस्तुपरक दृष्टिकोण से बनायी हुई व्यक्तिगत धारणा मात्र है। 'ज्ञानम्' का दार्शनिक शब्द के रूप में एक विशेष अर्थ है। यह 'संज्ञान' से भिन्न है जिसका अर्थ है किसी सम्पर्क से उत्पन्न बोध, आज्ञान से भी भिन्न है जो ग्रहणशील एवं केन्द्रीय संकल्पशक्ति के द्वारा देखा जाना है, जिसमें मस्तिष्क का आदेश भी अन्तर्निहित है, प्रज्ञान से भी भिन्न है, जो प्रज्ञा है, उद्देश्यपरक संकल्पशक्ति अथवा ऐसा ज्ञान जिसका कोई उद्देश्य हो, और विज्ञान अर्थात् विवेकपूर्ण ज्ञान से भी वह भिन्न है। ज्ञान है सीधा, माध्यम रहित ज्ञान। ब्रह्म परम ज्ञान है, सीधा स्वतः विद्यमान आदि, मध्य अथवा अन्त रहित जिसमें ज्ञाता स्वयं 'ज्ञान' भी है तथा 'ज्ञात' भी।

अन्त में ब्रह्म "अनन्तम्" है, अन्तहीन, जिसमें सभी अनन्तताएँ समाहित हैं। उसकी अनन्तता निश्चय ही उसकी परम सत्ता और परम चेतना में निहित है किन्तु उसके परमानन्द से वह सीधे प्रकट होती है क्योंकि आनन्द जैसा कि हम देखते है, वस्तुगत रूप से सीमाओं के अभाव में ही निहित होता है। अतएव 'अनन्तता' आनन्द

1. केन एवं अन्यान्य उपनिषद्, श्रीअरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरी, अर्चना माहेश्वरी, 2007, पृ. 41

की वस्तुपरक रूप से देखकर बनायी गयी व्यक्तिगत धारणा ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसे 'मुक्ति' अथवा 'अमरत्व' कह सकते हैं।[1]

समस्त जागतिक वस्तुएँ 'देश', 'काल' तथा 'करणत्व' की धरणा के द्वारा आरोपित नियमों अथवा सीमाओं से बँधी होती है, केवल ब्रह्म में ही मुक्ति है क्योंकि उसका देश अथवा काल में कोई आदि, मध्य तथा अन्त नहीं हैं। एवं अविकारी होने के नाते न ही कारणत्व में उसका आदि, मध्य तथा अन्त है। काल के दृष्टिकोण से देखने पर 'ब्रह्म' 'शाश्वतता' अथवा 'अमरत्व' है, कारणत्व के दृष्टिकोण से देखने से वह 'परममुक्ति' है। एक शब्द में कहें तो वह है "अनन्तम्"- अर्थात् अन्तहीनता, सीमाओं से पूर्णतया 'मुक्ति'।

✦✦✦

1. केन एवं अन्यान्य उपनिषद्, श्रीअरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरी, अर्चना माहेश्वरी, 2007, पृ.47

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (55-61) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

अष्टांग योग के अन्तर्गत आसन की महत्ता

-डॉ. संयोगिता*

वेद संहिताओं में योग शब्द योगः, योगम्, योगान्, योगाय, योगे- इन पाँच विभक्तियों में और तीस मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है।[1] इन मन्त्रों में प्रयुक्त यह पद वैयाकरणों के अर्थों का ही विस्तार करता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने योग की महत्ता को तथा उत्तम फलों को प्राप्त करने हेतु मनुष्यों को यमादि अष्टांग योग का पालन करने के लिये 'यो जनो योगं भूगर्भविद्यां च चिकीर्षेत् स यमादिभिः क्रिया-कौशलश्चाऽन्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां समज्यैतानि गुणकर्मस्वभावतो विदित्वोपयुञ्जीत। पुनर्यत् प्रकाशमानानां सूर्य्यादीनां प्रकाशकं ब्रह्मास्ति, तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि साध्नुयात्' वाक्यावली लिखी है। अष्टांग योग को वे अपने और दूसरों के सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने का साधन मानते हैं।[2] अथर्ववेद का कथन है कि योग के माध्यम से परमेश्वर प्राप्त हो सकता है।[3] योग पद को महर्षि दयानन्द सरस्वती समाधि अथवा काल का पर्यायवाची बताते हैं।[4]

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर-योग विज्ञान विभाग, कन्या, गुरुकुल परिसर, देहरादून (गुरुकुल कांगडी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार) दूरभाष-7895388337

1. योगः-ऋग्वेद संहिता 1.34.9, योगम्- ऋग्वेद संहिता 1.18.7, 10.114.9, अथर्ववेद संहिता 19.8.2, योगान्-ऋग्वेद संहिता 2.8.1, योगाय-यजुर्वेद संहिता 30.14, अथर्ववेद संहिता 10.5.1-6, योगे-ऋग्वेद संहिता 1.5.3, 3.27.11, 4.24.4, 5.37.5, 5.43.5, 7.54.3, 7.68.8, 7.86.8, 8.58.3, 10.30.11, 10.35.9, 10.39.12, 10.89.10, सामवेद संहिता 2.92, 2.12.19, अथर्ववेद संहिता 1.9.13.1, 20.69.1, योगे योगे-ऋग्वेद संहिता 1.24.7, 20.26.1।
2. यजुर्वेदभाष्ये 11.1 प्रथमो भागः, प्रकाशकः श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, वर्ष 2008
3. अ॑यमु॑ त्वा विचर्षणे जनी॑रिवाभि संवृ॑तः। प्र सोम॑ इन्द्र सर्पतु; अथर्ववेदसंहिता 20.5.1 प्रकाशक-परोपकारिणी सभा अजमेर, प्रथम संस्करण, विक्रमसंवत् 2043, पृष्ठ- 412
4. युज्यते स योगः, समाधिः कालो वा। - उणादिकोषः 4.217, भगवत्पाद-दयानन्दसरस्वती-स्वामिना विरचितया वैदिक-लौकिक-कोषभिधया व्याख्यया सहितः विविधाभिष्टिप्पणीभिः सूचिभिश्च संयुतः, सम्पादकः- युधिष्ठिरो मीमांसकः, प्रकाशक- श्रीमती विमलादेवी बागड़िया, श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट 170 जी. ब्लाक, न्यू अलीपुर, कलकत्ता, अप्रेल सन् 2010, चतुर्थ संस्करण पृष्ठ-162

योगविषय को आचार्य पतञ्जलि ने योगशास्त्र में ग्रथित किया है, जिसका मुख्य सिद्धान्त सांसारिक सुख का उपभोग करके आनन्द प्राप्त करना है और मुक्ति के मार्ग को प्राप्त करना है। पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि- इन आठ अंगों को योग विषय को समझाने के लिए लिखा है।[1] जिनके माध्यम से मानव मुक्ति के मार्ग का पथिक बनता है। महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में यदि कहा जाये तो 'इन आठ अंगों के आचरण में लाने से चित्त के मल का अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है, उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक हो जाता है अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखलायी देता है।[2]'

प्रस्तुत लेख में आसन योगांग पर विचार किया जा रहा है। आचार्य पाणिनीय धातुपाठ में उपवेशनार्थ में आस धातु पढ़ी है[3], जिसके बैठना, उपस्थित होना, विद्यमान होना, जीना, होना- ये अर्थ प्रसिद्ध हैं। विभिन्न उपसर्गों के प्रयुक्त होने पर यह धातु अर्थ परिवर्तन कर देती है, जैसे- अधि के साथ वास करना, रहना, ऊपर बैठना, वस्तुतः दृश्य के कारण इच्छित वस्तु को छोड़ के दूसरी वस्तु को लेना, अभि के साथ अध्ययन करना, अभ्यास करना, सीखना, उत् के साथ छोड़ना, त्यागना, उपेक्षा करना, हिलाना, कम्पित करना, उप के साथ उपासना करना, भजन करना और नि के साथ बाहर निकाल देना, देश से निकाल देना अर्थ प्रदान करते हैं।[4] कोषकार ने आस धातु को बैठना, आसन ग्रहण करना, ठहरना, रतिक्रिया की विशेष विधि, शत्रु के विरुद्ध किसी स्थान पर डटे रहना, हाथी के शरीर का अगला भाग, घोड़े का कन्धा, तिपाई जिस पर बैठा जाये, स्टूल, दुकान, अपने आसन पर दृढ़ इत्यादि अर्थों में दर्शाया है।[5]

---

1. "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद- 2.29 प्रकाशक-गीताप्रेस गोरखपुर- 273005
2. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। पातञ्जलयोगदर्शन, साधनपाद- 2.28 प्रकाशक-गीताप्रेस गोरखपुर- 273005
3. आस उपवेशने। (2.11 आ.) सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ 131021 जिला- सोनीपत (हरियाणा), संस्करण-अगस्त, सन् 2001
4. संस्कृत-धातु-कोषः, (पृष्ठ-10) सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ 131021 जिला-सोनीपत (हरियाणा), संस्करण-मार्च, सन् 1996।
5. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, संस्करण-1999 पृष्ठ-167

महर्षि पतञ्जलि ने आसन विषय को लेकर लिखा है कि सुखपूर्वक बैठने को आसन कहते हैं।[1] भाष्यकार महर्षि व्यास ने सूत्र में पठित 'आसन' पद को लेकर जो व्याख्यान[2] किया उसका भाव यह है कि जैसे- पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सहारे के आसन, हाथी की तरह बैठने के आसन, ऊँट की तरह बैठने के आसन तथा समसंस्थान। ये समस्त आसन स्थिरता तथा सौख्यभाव को देने वाले हैं। पुनरपि इन आसनों में से योगकर्ता पुरुष को साधना में जिस आसन से सुख मिले उसी आसन को करना उपयुक्त होता है। दयानन्द सरस्वती ने महर्षि पतञ्जलि के उक्त आसनविषयक सूत्र का सरल शब्दों में सारस्वत विश्वतोमुखं की तरह प्रकाश करते हुए लिखा 'अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हों, उसको आसन कहते हैं, अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करें।'[3] सूत्र का भावार्थ बताते हुए आचार्य राजवीर शास्त्री ने पातञ्जल-योगदर्शन-भाष्य में लिखा- चित्तवृत्तियों का निरोध कर तप, उपासनादि करने के लिये स्थिर होना कठिन होता है। अत: जप, उपासना करने के लिये योगाभ्यासी को किसी ऐसे आसन का भी अभ्यास करना चाहिये, जिसमें कई घण्टों तक सुखपूर्वक बैठ सके। यद्यपि पद्मासनादि आसनों के अनेक भेद यहाँ कहे हैं, परन्तु अभ्यासी पुरुष को जो आसन अनुकूल हो, उसी का अभ्यास करना चाहिये।[4] वस्तुत: यदि देखा जाये तो भावार्थकार आचार्य राजवीर शास्त्री जी का अभिप्राय भी महर्षि पतञ्जलि और महर्षि दयानन्द सरस्वती के समान सूत्र के भावार्थ को अभी तक सूत्रवत् ही दर्शाता हुआ प्रतीत होता है। भावार्थकार का सूत्रविस्तार विशेषरूप से सम्प्रति प्रभावित होता हुआ दिखायी देता है जब वे लौकिक जनों को बोधगम्य कराते हुए अगले पैराग्राफ में लिखते हैं कि 'आसन के विषय में यहाँ सूत्रकार ने दो विशेष बातें कही हैं- स्थिरता और सुख। स्थिरता से अभिप्राय है- उपासना के समय शरीर के किसी अंग का भी चञ्चल न होना। मक्खी, मच्छरादि के बैठने से अथवा शारीरिक खाजादि से भी स्थिरता भंग न होनी चाहिये। अन्यथा शरीर के चञ्चल होते ही चित्त चञ्चल हो जायेगा। सुख से अभिप्राय है कि जिस आसन में अभ्यासी बैठा है, उसमें किसी प्रकार का कष्ट न होना। क्योंकि जिस

---

1. स्थिरसुखमासनम्। पातञ्जलयोगदर्शन, साधनपाद- 2.46 प्रकाशक-गीताप्रेस गोरखपुर-273005
2. तद्यथा पद्मासनं, भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यंगकं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदन-मुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि। -पातञ्जल योगदर्शनम् व्यासभाष्य 2.46
3. दयानन्द-ग्रन्थमाला, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ-430, प्रकाशक श्रीमती परोपकारिणी सभा, दयानन्द आश्रम केसरगंज, अजमेर, सन् 1983 ई.
4. पातञ्जल योगदर्शनम् व्यासभाष्य 2.46, पृष्ठ-320, आर्ष साहित्यप्रचार ट्रस्ट, दिल्ली।

आसन का पूर्णतः अभ्यास नहीं होता, उससे घुटने आदि भागों में पीड़ा होने लगती है। नीचे से भूमि का भाग चुभने लगता है इत्यादि। अतः इसके लिये समभूमि का होना, नितम्बों के नीचे गद्दीदार आसन[1] बिछाना, एकान्त व पवित्र स्थान का होना, वायु का शुद्ध होना, मच्छरादि का न होना और शारीरिक खाजादि रोगों का न होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार युक्ताहार-विहार, संयत-शुद्धाहार, युक्त (उचित) सोना व जागना, युक्त शारीरिक व्यायामादि श्रम करना और हिंसा, राग, द्वेषादि का सर्वथा परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। इन उपायों के करने से तथा निरन्तर अभ्यास करने से आसन स्थिर और सुखद होता है।'

आसन के परिभाषण में महर्षि पतञ्जलि ने सूत्रान्तर्गत 'स्थिरम्' और 'सुखम्' पद को रखा है। इस प्रकार सूत्र में तीन पदों का प्रयोग हुआ है- स्थिरम्, सुखम्, आसनम्। तीनों ही पद समान विभक्ति, समान वचन और समान लिंग के हैं। वस्तुतः ये तीनों ही पद एक दूसरे के पर्यायवाची एवं पूरक से प्रतीत होते हैं। जो स्थिर होता है वही सुख होता है और जो सुख होता है वही स्थिर होता है एवं जो स्थिर तथा सुख होता है वही आसन होता है और जो आसन होता है वही स्थिर तथा सुख होता है। अमरकोष में स्थिर को स्थिरतर पद घोषित किया गया, जो तरप् प्रत्यय के प्रयोग से बनता है[2] और इस पद के साथ स्थास्नुः तथा स्थेयान् पद भी पढ़े गये हैं।[3] जो अतिशयरूप से स्थिर है उसे स्थिरतर कहेंगे। विचारणीय बात यह है कि पृथ्वी को भी स्थिरा कहते हैं[4], क्योंकि वह स्थिर है। परन्तु क्या पृथ्वी वस्तुतः स्थिर है? यह सब जानते हैं कि वह परिभ्रमण कर रही है, फिर भी उसे स्थिरा कहा गया। क्यों? इसका एक ही कारण प्रतीत होता है कि उसकी गति इतनी धीमी है कि उसे स्थिरा कहा गया है या कहने को मज़बूर होना पड़ा है। इसी प्रकार आसन की स्थिति में जब साधक बैठता है तो उसका श्वास-प्रश्वास चलते रहने पर भी वह स्थिर ही होता है। इसी प्रकार स्थिरा पद सालपर्णी के लिये भी प्रसिद्ध है।[5] क्या कोई निश्चित कर सकता है कि सालपर्णी स्थिर होता है? एक समय आने पर वह भी हिलता-डुलता तथा विनाश को भी प्राप्त होता है। फिर भी स्थिर पद इसी लिये प्रयोग किया है कि वह अन्यों की अपेक्षा दीर्घकाल तक स्थैर्य बनाकर रखता है। इसी प्रकार साधक भी दीर्घकाल पर्यन्त स्थिरता से युक्त होकर जब रहता है तब आसन को सिद्ध कर

---

1. इसके लिये योगाभ्यासी व्यक्ति चैलाजिनकुसोत्म-प्रथम वस्त्र, उसके ऊपर मृगछाला और उसके ऊपर कुशासनादि का प्रयोग करते हैं। आचार्य राजवीर शास्त्री
2. अष्टाध्यायीसूत्रपाठः। 5.3.57
3. स्थास्नुः स्थिरतरः स्थेयान्।- अमरकोषः 3.71
4. भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वंभरा स्थिरा।- अमरकोषः 2.2
5. विदारिगन्धांशुमती सालपर्णी स्थिरा ध्रुवा।- अमरकोषः 2.4.115

सकता है। सूत्र में समागत 'सुखम्' पद भी विशेषार्थ को अधिगृहीत किये हुए है। जहाँ वैदिककोष: निघण्टु में सुखम् पद एक सौ जलवाची पदों में पढ़ा है[1] वहीं सुख के बीस पर्यायवाची पद भी पढ़े गये हैं[2]। जिस प्रकार जल की प्रचुरता, स्थिति तथा महत्ता संसार में सर्वाधिक है उसी प्रकार सुख की भी प्रचुरता, महत्ता और स्थिति है। जीवन में यदा-कदा समागत क्षणिक दु:ख ही व्यक्ति को झकझोर देता है। अधिक काल पर्यन्त तो सुख ही रहता है। इसी प्रकार साधक को भी स्थिरता के साथ-साथ सुख की प्राप्ति स्वत: होने लगती है और जिसे स्थिरता तथा सुख प्राप्त होते हैं वह आसन को सिद्ध करता दिखायी देता है।

सुख इन्द्रियों के लिये हितकारी होता है, इस कारण वह सुख कहलाता है। सुहित सु-सुख।[3] 'ख' इन्द्रियों को कहते हैं और इन्द्रियाँ सछिद्र होती हैं। यहाँ अवदारण[4] अर्थ में 'खनु' धातु से 'ड' प्रत्यय हो गया है। सुख कल्याणवाचक भी है, क्योंकि कल्याण पुण्य का द्योतक होता है।[5] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर सुखम् पद का व्याख्यान करते हुए इस पद का अर्थ 'सुन्दर विशाल आकाश में स्थित'[6] 'आनन्दकारक'[7] 'इन्द्रियों के लिये सुखदायक'[8] 'परमानन्द प्रसन्नता'[9] तथा 'रथ'[10] किये हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि लोक में जिस सुख पद का मात्र एक ही अर्थ किया जाता है वह विभिन्नार्थों को गृहीत किये हुए है। कोषकारों ने सुख के भी चार भेद किये हैं[11]- वैषयिक, आभिमानिक, मानोरथिक

---

1. वैदिक-निघण्टुकोष:। 1, 12
2. शिम्बाता। शतरा। शातपन्ता। शर्म (शिल्गु:)। स्यूमकम्। शेवृधम्। मय:। सुग्म्यम्। सुदिनम्। शूषम्। शुनम्। शग्मम्(शग्म्यम्)। भेषजम्। जलाषम्। स्योनम्। सुम्नम्। शेवम्। शिवम्। शम्। कम्। 3.6
3. सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्य:। निरु. 3.13
4. पाणिनीय धातुपाठ:, खनु अवदारणे।- 1.618, उभयपदी, सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ 131021 जिला-सोनीपत (हरियाणा), संस्करण-अगस्त, सन् 2001
5. सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति।- निरु. 9.2
6. ऋग्वेदभाष्यम्।- 1.20.3
7. ऋग्वेदभाष्यम्। 1.49.2
8. ऋग्वेदभाष्यम्। 3.35.4
9. यजुर्वेदभाष्यम्। 18.6
10. ऋग्वेदभाष्यम्। 1.120.11
11. तच्च सुखं चतुर्विधं वैषयिकमाभिमानिकं मानोरथिकम् आभ्यासिकञ्चेति। आद्यं विषयेन्द्रिय-साक्षात्कारजन्यं, द्वितीयं राजाधिपत्यपाण्डित्यार्णवादिजन्यं, तृतीयं विषयध्यानजन्यम्,-

तथा आभ्यासिक। इनमें प्रथम विषयेन्द्रियों के साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाला है, दूसरा राज्याधिपत्य-पाण्डित्यादि से उत्पन्न होने वाला है, तीसरा विषयों के ध्यान से उत्पन्न होने वाला है और चौथा सूर्यादिनमस्कारादिजन्य है। इस प्रकार सुख पद भी विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्याहृत किया गया है। महर्षि पतञ्जलि-प्रोक्त स्थिरम्, सुखम् और आसनम् पद मात्र सामान्यार्थ को न देते हुए किसी विशेषार्थ को प्रदान करते हैं, जिनको सामान्य शब्दावली और अर्थ के द्वारा प्राप्त करना उक्त सूत्र के साथ न्याय करना नहीं होगा।

महर्षियों की परमसुखद शैली यह है कि वे प्रथमतः सूत्रवत् विषय का वर्णन करते हैं पुनः उस सूत्र में समागत विभिन्न समस्याओं के निदान हेतु मार्गप्रशस्त करते हुए दिखायी देते हैं। आसन के विषय को बताने वाले उक्त सूत्र में वर्णित स्थिरता और सुख को सरलता से कैसे प्राप्त किया जा सकता है, भाष्यकार महर्षि व्यास जी ने शंका उठाते हुए जो लिखा उसका भाव यह है कि- 'उसी स्थिरता और सुख की प्राप्ति के लिये उपाय कहते हैं।[1] महर्षि पतञ्जलि साधक के मन की बात को भाँपते हुए सूत्र में बताते हैं- कि यह आसन प्रयत्न की शिथिलता से और मन को अनन्त में लगाने से सिद्ध होने लगता है। अर्थात् आसन की सिद्धि शारीरिक प्रयत्नों का अभाव मांगती है और चित्त की वृत्तियों का निरोध स्वीकार करती है। इसी कारण से महर्षि व्यासकृत व्याख्यान का भाव भी यही है कि शारीरिक चेष्टाओं के रोकने से कम्पन रुक जाता है और मन को परमेश्वर में लगाने से आत्मा सिद्धि को प्राप्त होने लगता है।[2]' इस प्रयत्न-शैथिल्य और अनन्त समापत्ति के न होने से साधक उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है जिस आसन के सिद्ध होने पर साधक योग के अग्रिम पाँच अंगों पर चलना चाहता है और उसका उद्देश्य महर्षि ने अग्रिम सूत्र में आसन की सिद्धि के फल पर चर्चा करते हुए बताया कि साधक को जब आसन की सिद्धि हो जाती है, तब उसे शीत-उष्ण और सूत्र में समागत आदि पद से भूख-प्यास आदि द्वन्द्व पीडित नहीं करते हैं[3] अर्थात् साधक जब आसन को सिद्ध

- चतुर्थं सूर्यादिनमस्कारायासादिजन्यं लाघवरूपमिति। वाचस्पत्यम्, पृष्ठ- 5307, छठा भाग,चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, के. 37/99 गोपाल मन्दिर लेन गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी

1. तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह।- पातञ्जल योगदर्शनम् व्यासभाष्य 2.46 पृष्ठ-321
2. प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नांगमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति।- व्यासभाष्य 47, पृष्ठ- 231
3. ततो द्वन्द्वानभिघातः। - पातञ्जलयोगदर्शन, साधनपाद 2.32 प्रकाशक-गीताप्रेस गोरखपुर-273005

कर लेता है तब उसमें इतनी सहनशीलता आ जाती है कि सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि जोड़े साधक को परेशान नहीं कर सकते। इन के द्वारा पीडित करने पर साधक को इनसे बचाव के लिये वस्त्र-आवास, भोजन-जलादि की व्यवस्था करनी होती है, जिससे अत्यधिक समय इनके संग्रहण में व्यतीत होने लगता है। इस कारण भाष्यकार व्यास ने 'आसन-जय'[1] पद का प्रयोग करके आसन की स्थिरता को दर्शाया है, जिस कारण आसन के स्थिर हो जाने पर सामान्यजनों के समान साधक को कष्ट नहीं झेलने होते हैं।

इस प्रकार देखने में आता है कि यम-नियम योगांग का वर्णन करने के उपरान्त जो आसन का वर्णन महर्षि पतञ्जलि ने किया है उसके अन्दर क्रमबद्धता के साथ-साथ क्रमौचित्यता भी प्रतीत होती है, जिस कारण स्वयं चुने हुए उस कण्टकाकीर्ण मार्ग को योग-जिज्ञासु पार करते हुए आनन्द का अनुभव करने लगता है और लौकिकजनों की दृष्टि में यह सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि का सहन करना एक सिद्धि के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त करता है। एवं जो लोग आसन को इतने सरल रूप से लेते हुए योग में उसकी महत्ता को गम्भीरता से नहीं लेते उन्हें इन द्वन्द्वों के विनाश हेतु पुनः पुनः ही नहीं अपितु प्रतिपल कष्टों का सामना करना पड़ता है, जो कि योग के अग्रिम अंग प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तक पहुँचने में अवरोध का कार्य हो जाता है। अतः आसन की महत्ता विशेषरूप से साधक समझकर आगे बढ़ता है।

✦✦✦

---

1. शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते।- पातञ्जल योगदर्शनम् व्यासभाष्य 2.48 पृष्ठ-321, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (62-69) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

यास्कीयनिरुक्ते आदित्यवर्णनम्

डॉ. अरुणिमा रानी*

एसोसिएटप्रोफेसरः, संस्कृतविभागे, एस.डी. महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्

यास्कीयनिघण्टुकोशः पंचाध्यायात्मकः। निघण्टोः पंचमाध्याये देवतापरिगणनम्। यास्कीयनिरुक्तं त्रिकाण्डयुतम्- नैघण्टुकं नैगमं दैवतं च। दैवतकाण्डं च सप्तमाध्यायादारभ्य द्वादशाध्यायपर्यन्तं वर्तते। सप्तमाध्यायस्य त्रिषु पादेषु दैवतकाण्डस्य भूमिका विद्यते। तत्र उल्लिखितं यत् सूर्यो द्युस्थानः माहाभाग्याद् महैश्वर्ययोगाद् कर्मपृथक्त्वाच्च तस्य बहूनि नामधेयानि सन्ति। निघण्टोः पंचमाध्याये महर्षिणा यास्केन सूर्यस्य बहूनि नामधेयानि परिगणितानि। **'त्वष्टा। सविता। भगः। सूर्यः। पूषा। विष्णुः। विश्वानरः। वरुणः। केशी। केशिनः। वृषाकपिः। यमः। अज एकपात्। समुद्रः। दध्यङ्। अथर्वा। मनुः। आदित्याः।** आलेखेऽस्मिन् एषां पदानां क्रमेण पदार्थचिन्तनं करिष्यामः।

1. त्वष्टा- त्वष्टेति पदं त्रिषु स्थानेषु[1] प्राप्यते निघण्टौ। सर्वत्रैव भिन्नार्थकं तत्। एकं पदं कथं भिन्नार्थकमिति जिज्ञासायामागच्छति महर्षेः यास्कस्य यौगिकवादः। यौगिकवादेनैव एवं सम्भवति। यौगिकवादमनुसृत्य प्रकरणं ज्ञात्वा चैवैकपदं बह्वर्थं गृह्णाति। आप्रीदेवताप्रसंगे[2] यदा त्वष्टेति पदमागच्छति तदा तस्यार्थः पार्थिवाग्निः यज्ञाग्निर्वा। यदा च अन्तरिक्षस्थानीयासु देवतासु[3] त्वष्टेति पदं दृश्यते तदा तस्यार्थः वायुरिति। यदा च द्युस्थाने[4] त्वष्टेति पदं परिगण्यते तदा तस्यार्थः सूर्य इति। एवं पदमेकं यज्ञाग्निं वायुं सूर्यं च द्योतयति यौगिकमर्थमनुसृत्य। महर्षेः यास्कस्य राद्धान्तः- **'नामानि आख्यातजानि इति।'**[5] द्युस्थानीयत्वष्टेतिपदज्ञानार्थं 'सरण्यू' इति पदज्ञानमावश्यकम्। 'सरण्यू' इत्यस्यार्थ सैव उषा यदा सूर्यं प्रत्यविभागेन सृता प्रसृता भवति तदा सरणात् सरण्यूच्यते इति दुर्गः।[6] एवं सरण्यूरिति रात्रिर्नाम। महर्षिणा यास्केन 'त्वष्टा सरण्यूः' एतयोः पदज्ञानार्थं

---

* एसोसिएटप्रोफेसरः, संस्कृतविभागे, एस.डी. महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्

1. निघण्टुकोशः- 5/2, 5/4, 5/6
2. निरुक्तभाष्यम्- 8/2/14, पृ. 547
3. निरुक्तभाष्यम्- 10/3/21, पृ. 642
4. निरुक्तभाष्यम्- 12/1/6, पृ. 718
5. निरुक्तभाष्यम्- 1/4/11, पृ. 54
6. निरुक्तम्, मुकुन्दझा शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंगलो रोड, जवाहरनगर, संस्करण, 2008, 12/1, पृ. 500

नित्येतिहासं प्रदत्तम्- **'तत्रेतिहासमाचक्षते- त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयांचकार---।'**[1] 'त्वाष्ट्री सरण्यू' इत्यस्यार्थः त्वष्टुः दुहिता पुत्री सरण्यूरित्यस्मिन् विषये महर्षिः यास्कः एका ऋक् प्रददाति- 'त्वष्टा दुहित्रे वहतुं **कृणोतीतीदम्।**'[2] एवं सरण्यू त्वष्टुः दुहिता इति। त्वष्टा सूर्यः सरण्यू रात्रिरिति निश्चितम्। त्वष्टा दुहित्रे इत्यस्मिन् मन्त्रे जाया विवस्वतः इत्यस्यार्थः रात्रिरादित्यस्य एवं करोति यास्कः। अनेन त्वष्टुः जाया सरण्यो इति। अत्र ध्यातव्यमिदं यत् लौकिकरूपेण नैव वर्तते एषः सम्बन्धः। यथा सूर्या सूर्यस्य सहचारिणी सूर्यपत्नी एवमेव सरण्यू त्वष्टुः पत्नी इति। वेदे एतादृशं वर्णनं बहुधा प्राप्यते। यथा- **'अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्'**[3] 'यहां पिता के प्रसंग से 'दुहिता' का अर्थ माता है।'[4] एवं लिखितम् चन्द्रमणिमहाभागेन। एवं 'त्वष्टा' इत्यस्यार्थः 'रात्रि वाला आदित्य'।

2. सविता- सर्वस्य प्रसविता[5] इति व्युत्पत्त्या आदित्यवाचकः। **अस्य कालः यदा द्यौरेव अपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति**[6] न पृथिवी इति। अर्थात् जब अन्तरिक्ष में तो प्रकाश हो और नीचे भूमि पर अन्धेरा हो, ऐसा काल सविता का कहलाता है। इति हिन्दीभाषायाम्। सवितुः कालपरिपुष्टार्थं महर्षिणा यास्केन उदाहरणद्वयं प्रदत्तम्- 'अधोरामः सावित्रः' 'कृकवाकुः सावित्रः' इति। अधोरामः सावित्रः उदाहरणेऽस्मिन् अधोरामपक्षीसदृशः कालः सवितुः। यथा अधोरामपक्षिणः चरणौ कृष्णौ भवतः उपरिष्टाच्च श्वेतवर्णः तथैव सवितुः कालः उपरिष्टात् ज्योतिः अधस्तात् भूम्यां तमः। 'कृकवाकुः सावित्रः' उदाहरणेऽस्मिन् यदा कृकवाकुः पक्षी कुक्कुटः इति वक्ति तदा सवितुः कालः। 'विनाकमख्यत्सविता वरेण्यः'[7] इति मन्त्रप्रमाणेनापि ज्ञायते सविता नाकमन्तरिक्षं प्रकाशयति।[8]

3. भगः- 'भगो भजतेः'[9] इत्येवं स्त्रीभगस्य द्योतकः परं द्युस्थानीयासु देवतासु 'भग' इति आदित्यवाचकः।[10] भगादित्यस्य कालः सूर्योदयात् पूर्वं विद्यते। 'भग'

---

1. निरुक्तभाष्यम्- 12/1, पृ. 716
2. ऋग्वेदः 10/17/1
3. ऋग्वेदः 1/164/33, द्यौर्मे पिता----
4. निरुक्तभाष्यम्- 4/3, पृ. 284
5. निरुक्तभाष्यम्- 10/3, पृ. 640
6. निरुक्तभाष्यम्- 12/1, पृ. 719
7. तदेव- 12/1, पृ. 721
8. ऋग्वेदः- 5/81/2, विश्वारूपाणि----
9. निरुक्तभाष्यम्, 3/3, पृ. 212
10. तदेव- 12/2, पृ. 722

इत्यस्यार्थपरिपुष्टार्थं महर्षिणा यास्केन 'प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम'[1] इति मन्त्र उदाहृतः। मन्त्रेऽस्मिन् दर्शितं यत् भग उषसः पुत्रः। जितमुग्रं भगं हुवेम अर्थात् जितेन्द्रियप्रदातारं उदयनायोद्यतं भगं सूर्यं वयं ह्वयेम। भगस्य = अनुदितादित्यस्य एकमन्यत् विशेषणं विद्यते 'विधर्ता' अर्थात् प्राणिनः पुष्टिकर्ता। आध्रश्चित् = दरिद्रः, तुरश्चित् = न्यायाधीशः, राजाचिद् = राजा च यं भगं भक्षि = भजते। 'भग' इत्यस्यार्थज्ञानार्थं महर्षिणोल्लिखितम्- 'अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते।' 'भग अन्धा अर्थात् प्रकाशरहित होता है- ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। अनुत्सृप्तः त्र अनुदित होने से दिखाई नहीं देता।' इति चन्द्रमणिमहाभागेन स्पष्टीकृतम्। महर्षिणा यास्केन 'भग' इत्यस्यार्थं स्पष्टीकरणाय ब्राह्मणवचनमुद्धृतम्- 'प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान' 'प्राशित्र ने भग की आँखें फोड़ दी' इति हिन्दीभाषायाम्। गोपथब्राह्मणेऽपि एतदेव वर्णनं प्राप्यते- 'तस्मादाहुरन्धो वै भगः'।[2] किं तद् प्राशित्रमेतद् विचारणीयम्। 'भग' इति अनुदितादित्यस्यैव वाचक इति स्पष्टीकरणाय महर्षिणा यास्केन वाक्यमेकं सामान्यं प्रदत्तम्- 'जनं भगो गच्छति' अर्थात् आदित्य उदयेन जनं प्रति गच्छति।

4. सूर्यः- 'सूर्य' इत्यत्र धातुत्रयं वर्तते। **'सृ गतौ' 'षू प्रेरणे' 'सु पूर्वकम् ईर धातुश्च'।**[3] महर्षिणा यास्केनोल्लिखितम्- **'सर्तेर्वा, सुवतेर्वा, स्वीर्य्यतेर्वा।'**[4] सूर्य इति उदयकालीनस्य आदित्यस्य वाचकः। सूर्यस्यार्थं स्पष्टीकरणाय महर्षिणा यास्केन **'उदुत्यं जातवेदसं:'**[5] इति मन्त्र उद्धृतः। विश्वाय दृशे दर्शनाय केतवः रश्मयः जातवेदसं देवं सूर्यमुद्वहन्ति। सूर्यस्य महत्त्वं ज्ञापनाय वर्णितं यत्- सूर्यः जगतः तस्थुषः जंगमस्य स्थावरस्य च आत्मा वर्तते, सैव सूर्यः द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च स्वमहत्त्वेन अपूपुरद्। चायनीयं रश्मीनां समूहम् उदगमत्। स च मित्रस्य वरुणस्य अग्नेश्च ज्ञापकः। मन्त्रार्थेनैव सिद्धं यत् सूर्य इत्स्यार्थः उदितः सूर्यः।

5. पूषन्- 'पूषा' इति पूर्वाह्णकालीनस्यादित्यस्य वाचकः। महर्षिणा यास्केन पूष्णः निर्वचनं प्रदत्तम्- **'यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति'**[6] तस्यैषा भवति- **'शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यत्'।** पूष्ण अर्थनिर्धारणार्थं महर्षिः यास्कः मन्त्रस्यास्यार्थं प्रददाति-'शुक्रं ते अन्यत् लोहितं ते अन्यत् यजतं ते अन्यद् यज्ञियं ते अन्यद्

---

1. ऋग्वेदः- 7/41/2
2. गोपथब्राह्मणम्- 2/1/2
3. संस्कृतधातुकोषः, पं. युधिष्ठिर मीमांसकः, रामलालकपूर ट्रस्ट, सन् 1996, 1/669, 6/117, पृ. 132, 2/8, पृ. 12
4. निरुक्तभाष्यम्- 12/2/9
5. ऋग्वेदः- 1/50/1
6. निरुक्तभाष्यम्- 12/2/10

विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि।' अन्नवन्! भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु।।' मन्त्रेऽस्मिन् पूष्ण आदित्यस्य स्वरूपं विद्यते। सः लोहितरूपः यज्ञियधूम्ररूपः कृष्णः, एवं विषमस्वरूपः। 'पूषाकाल में आतप कुछ रक्त और कुछ कालिमा लिए होती है, अतः विषम स्वरूप वाले इन दोनों प्रकार के दिनों का निर्माण करना पूषा का कर्म है।' इति चन्द्रमणिमहाभागेन पूष्णः स्वरूपं स्पष्टीकृतम्।[1] पूष्णः स्वरूपं ज्ञापनार्थं अपरा ऋग् प्रददाति महर्षिः यास्कः- **'पथस्पथः परिपतिं वचस्याः'।**[2] पूषाकालः कार्यव्यापारसमयः धनोपार्जनसमयश्च। पूषा पूर्वाह्णकालीनादित्यः पथस्पथः परिपतिः वर्तते मार्गरक्षक इत्यर्थः।

6. विष्णुः- मध्याह्नकालीनस्यादित्यस्य वाचकः। विष्णुरित्यत्र धातुत्रयं वर्तते **'विष्लृ व्याप्तौ', 'विश' प्रवेशने, विपूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ।**[3] एतेभ्यो धातुभ्यो णु प्रत्यये किद्भावे च कृते सिद्धमिदं रूपम्। महर्षिणोक्तम्- **'यद् विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।'**[4] मध्याह्नकालीनस्यादित्यस्य संज्ञा विष्णुरिति ज्ञापनार्थं महर्षिः यास्क प्रमाणेकमुद्धरति- **'इदं विष्णुर्विचक्रमे'।**[5] महर्षिणा यास्केन स्वकृतमन्त्रार्थे ज्ञापितम्- 'यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुः' अर्थात् इस भू भाग पर जो कुछ भी है, उस सब में विष्णु विक्रम दर्शाता है। ऐसे स्वरूप वाला मध्याह्नकालीन सूर्य ही है जिसका नाम विष्णु है। 'त्रेधा निदधे पदम्' यह विष्णु तीनों लोक-पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक को प्रकाशित कर रहा है। अस्मिन् विषये शाकपूण्याचार्येनोक्तम्- 'त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति।' विष्णोः त्रीणि पदानि कुत्र कुत्र विद्यन्ते अस्मिन् विषये, और्णवाभाचार्येनोक्तम्-'समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीति' समारोहणे=द्युलोके, विष्णुपदे = अन्तरिक्षमध्ये, गयशिरसि = गृहशिरसि **'गय इति गृहनामसु पठितम्।'**[6] समूढमस्य पांसुरे 'इत्यत्र पांसुरे' इति पदस्यार्थ अन्तरिक्षे 'यास्केनोक्तम्-पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे।' अन्तरिक्षे अस्य विष्णोः पदं न दृश्यते अथवा उपमार्थेन पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। वामनावतारस्य त्रिविक्रमस्य मिथ्याकल्पनापि अनेनैव मन्त्रेण कृता।

7. विश्वानरः- द्युस्थानीयासु देवतासु विश्वानरः मध्याह्नोत्तरकालीनस्यादित्यस्य वाचकः। पृथिवीस्थानीयासु देवतास्वपि प्रचर्चते। निघण्टौ द्विवारं प्राप्यते विश्वानरः- पृथिवीस्थानीयासु देवतासु वैश्वानररूपेण द्युस्थानीयासु देवतासु च विश्वानर इति।[7]

---

1. निरुक्तभाष्यम्- 12/2, पृ. 725
2. ऋग्वेदः- 6/49/8
3. संस्कृतधातुकोषः- 3/13, 6/133, 5/118, पृ. 8, 113, 114
4. निरुक्तभाष्यम्- 12/2/11
5. ऋग्वेदः- 1/22/17
6. निघण्टुकोश- 3/4
7. निरुक्तभाष्यम्- 7/6, 12/2, पृ. 508, 728

महर्षिः यास्कः निर्वक्ति- **'विश्वान्नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एवं स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः।'**[1] अत्र द्वौ शब्दौ स्तः-विश्वानरः वैश्वानरश्च। तालिकारूपेण ज्ञापयामः-

	कः विश्वानरः	**कश्च वैश्वानरः**
उत्तरपक्षे	उत्तरे ज्योतिषी	अयमेवाग्निः
(यास्कमते)	विद्युत् सूर्यश्च	
प्रथमः पूर्वपक्षः		विद्युत्
द्वितीयः पूर्वपक्षः		आदित्यः
(पूर्वे याज्ञिकाः)		

सुस्पष्टमेतत् यत् द्युस्थानीयदेवतासु विश्वानर आदित्यवाचकः। विश्वानरस्यार्थ आदित्य इति ज्ञापनार्थं महर्षिणा प्रदत्तः मन्त्रः। 'तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्रयामृचि- **'विश्वानरस्य वस्पति।'**[2] मन्त्रेणैतेन ज्ञायते यः सूर्यः महतो बलस्य पतिः वर्तते सः मध्याह्नोत्तरकालीनः सूर्य एव। तस्मिन् काल आदित्य प्रखरकिरणैः रक्षति सर्वान्। तस्य नाम तदा विश्वानर इति भवति।

8. वरुणः- निघण्टोः पंचमाध्याये वरुण इति पदं द्विवारमागच्छति। मध्यस्थानादेवतासु द्युस्थानादेवतासु च।[3] मध्यस्थानादेवतासु वरुणः इत्यस्यार्थः वृष्टिकारकः वायुरिति परं द्युस्थानासु रोगनिवारक आदित्य इति। एवं वरुण इत्यस्य द्वावर्थौ स्तः- वायुः आदित्यश्च। वरुण इत्यस्य आदित्योऽर्थ इति ज्ञापनार्थं महर्षिणा मन्त्रः प्रदत्तः- **'येना पावक चक्षसा।'**[4] मन्त्रार्थेन प्रकरणेन ज्ञायते यदत्र वरुणः आदित्यवाचकः। सैव पावकः शोधकः। 'त्वं वरुणं पश्यसि' इत्यनेन ज्ञायते सैव वरुणः सर्वान् प्रकाशयति। वरुण इत्यस्य आदित्य एवार्थः इत्यस्मिन् विषये महर्षिः यास्कः मन्त्रत्रयम् उद्धरति।

9. केशी- केशी शब्द आदित्यवाचकः। **'काशृ' दीप्तौ**[5] इति धातोः इनि प्रत्यये कृते सिध्यति रूपम्। यास्कनिर्वचनम्- **'केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति, काशनाद्वा।'**[6] केशीशब्दः आदित्यस्यैव बोधक इति ज्ञापनार्थं महता प्रयत्नेन महर्षिणा यास्केन वेदादुद्धृत एको मन्त्रः- **'केश्यग्निं केशीविषं केशी बिभर्ति रोदसी। केशी**

---

1. तदेव- 7/6, पृ. 507
2. ऋग्वेदः- 8/68/4
3. निरुक्तभाष्यम्- 10/1, 12/2
4. ऋग्वेदः- 1/50/6
5. संस्कृतधातुकोषः- 1/430, पृ. 19
6. निरुक्तभाष्यम्- 12/3

विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।'[1] मन्त्रार्थेन सुस्पष्टमेतत् यत् केशी आदित्यवाचकः। सैवाग्निं विषम् = उदकं, रोदसी = द्यावापृथिव्यौ च धारयति। सैव च सर्वमिदमभिविपश्यति। मन्त्रे स्पष्टरूपेण लिखितम्- 'इदं ज्योतिः केशी उच्यते।' मन्त्रार्थानुशीलनेन एतदपि ज्ञायते यत् वेद एव वेदार्थदीपकः।

1. केशिनः- त्रयः केशिनो भवन्ति- सूर्य अग्निः वायुश्चेति। तेषामेषा साधारणा भवति **'त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते।'**[2] मन्त्रेणैतेन ज्ञायते- एषामेकः संवत्सरे वपत अर्थात् एकः अग्निः पृथिवीं दहति। एकः शचीभिः विश्वमभिचष्टे अर्थात् एक आदित्यः कर्मभि अभिविपश्यति। एकस्य वायोः ध्राजिः गतिः दृश्यते न रूपम्।

11. वृषाकपिः- अस्तंगतस्यादित्यस्य वाचकः। 'उपसंहृत रश्मियों से भूतों को कम्पायमान करता हुआ अस्तंगत हो रहा होता है अतः वृषाकपि कहलाता है।' वृषाकपिरित्यत्र वृषन् पूर्वकात् 'कपि' चलने इति धातोः इण् धातोश्च सिध्यति रूपम्।[3] महर्षिणा यास्केन निर्वचनं प्रदत्तम्- **'यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः।'**[4] वृषाकपि अस्तंगतस्यादित्यस्यैव वाचक इति ज्ञापनार्थं महर्षिणा यास्केनैषा ऋक् प्रदत्ता- **'पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै'**[5] मन्त्रार्थेन प्रकरणेन च ज्ञायते यत् अस्तंगतस्यादित्यस्यैव वर्णनमेतत्। अस्त होते हुए सूर्य को सम्बोधित कर कहा जा रहा है- 'पुनरेहि'। वर्णनमेतत् आदित्यस्यैव। तस्याभिधानं तदा वृषाकपिरिति।

12. यमः- अस्तमयावस्थ आदित्य इति। निघण्टौ यम इति पदं द्विवारमागच्छति।[6] यदा मध्यस्थानासु देवतासु आगच्छति तदा तस्यार्थः प्राणवायुरिति यदा च द्युस्थानासु प्राप्यते तदा आदित्य वाचकः। **'यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे'** मन्त्रेऽस्मिन् यम इति पदेन अस्तमयावस्थ आदित्य एव गृह्यते। तस्य कालस्य वर्णनं पलाशपुष्पवर्णेन उपमितम्। जब आदित्य 'भूलोक व अन्तरिक्षलोक से रश्मिजाल को समेट लेता है' और द्युलोक में चन्द्रनक्षत्रादिकों को प्रकाशित करता है तब 'यम' कहलाता है।[7]

13. अज एकपात्- अस्तभावस्थ आदित्य उच्यते इति देवराजयज्वा। छान्दोग्योपनिषदि[8] उल्लिखितम्- **'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। अग्निः पादो वायुः पादः**

---

1. ऋग्वेदः- 10/136/1
2. ऋग्वेदः- 1/64/44
3. संस्कृतधातुकोषः- 1/261, पृ. 18
4. निरुक्तभाष्यम्- 12/3/16
5. ऋग्वेदः- 10/86/21
6. निरुक्तभाष्यम्- 10/2/12, 12/3/17, पृ. 626, 734
7. ऋग्वेदः- 10/135/1
8. छान्दोग्योपनिषद्- 5/18

आदित्यः पादो दिशः पादः।' अनेनापि प्रतीयते यत् अज एकपात् इति अस्तङ्गत आदित्य इति। महर्षिणा यास्केन अज इत्यस्य एकं निर्वचनं दत्तम्- **'अजनः' अस्तङ्गत** इत्यर्थः एकपात् इत्यस्य च चत्वारि निर्वचनानि प्रदत्तानि। **1. एकः पादः इति एकपात्, 2. एकेन पादेन पातीति वा, 3. एकेन पादेन पिबतीति वा, 4. एकोऽस्य पाद इति वा।**[1] एतैः निर्वचनैः आदित्यविषये सूच्यते यत् आदित्यः स्वपरिधौ भ्रमन् पाति रक्षति पिबति रसाहरणं करोतीत्यर्थः। एकोऽस्य पाद इति प्रसंगे महर्षिणा यास्केन 'एकं पादं नोत्खिदति' इति मन्त्रांश उदधृतः। मन्त्रार्थेन च ज्ञायते यत् आदित्यस्य एक एव पाद इति। स च नोत्खिद्यैव गच्छति अर्थात् परिधौ भ्रमति।

14. समुद्रः- 'समुद्द्रवन्त्यस्माद् रश्मयः' इति निर्वचनात् समुद्र इति आदित्य-वाचकः। निघण्टोः प्रथमाध्याये समुद्र इति पदमन्तरिक्षनामसु पठितम्। एवं समुद्र अन्तरिक्षवाचकः पृथिवीस्थसमुद्रवाचकश्च।[2] द्युस्थानादेवतासु समुद्र इति पदमादित्यवाचकम् इति ज्ञापनार्थं महर्षिणा यास्केन **'पवित्रवन्तः परिवार्चमासते'**[3] इति मन्त्र उद्धृतः। मन्त्रार्थेन ज्ञायते यत् वरुणः वायुः महः समुद्रम् आदित्यं तिरोऽन्तर्दधाति तदा धीराः धरुणेषु उदकेषु कर्मण आरब्धुं शक्नुवन्ति। मन्त्रप्रकरणेनापि ज्ञायते यत् अत्र समुद्र इति आदित्यवाचकः नान्तरिक्षवाचकः न च पृथिवीस्थसमुद्रवाचकः।

15-17. दध्यङ्, अथर्वा, मनुः- एतानि त्रीणि पदानि आदित्याभिधानानि। दध्यङ् इति पदं ध्यानपूर्वकात् अंचू धातो क्विन् प्रत्यये कृते सिध्यति। **'प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा।'**[4] निर्वचनमिदं आदित्यमेव ज्ञापयति। सैव ध्याने प्रकाशने प्रतिगतः, ध्यानकार्यं च तस्मिन् सफलं लक्ष्यते इति। **'अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः।'** निर्वचनेना नेनादित्योगृह्यते। 'मनु' इत्यत्र मन धातुः वधार्थकः। तस्मादुः प्रत्ययः। **'मनुर्मननात्'** रोगनाशनाद् मनुः आदित्यवाचकः। उपमारूपेण एतानि त्रीणि पदानि एकस्मिनेव मन्त्रे प्राप्यते निपातरूपेणैन्द्रयामृचि- **'यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्।'**[5]**।**

18. आदित्याः- आदित्यसमूहवाचकः। आङ्पूर्वकात् दा धातोः दीप् धातोश्च[6] यक् प्रत्यये कृते सिध्यति आदित्यशब्दः। 'दा' इत्यस्य इद् आदेशः। आदित्या इति

---

1. निरुक्तभाष्यम्- 12/3/18, पृ. 735
2. तदेव- 2/3, 12/3
3. ऋग्वेदः- 9/73/3
4. निरुक्तभाष्यम्- 12/3/21-23
5. ऋग्वेदः- 1/80/16
6. संस्कृतधातुकोषः- 3/9, 4/41, पृ. 61, 63

विषये ऋगेषा वर्तते- **'इमा गिर आदित्येभ्यो'**[1] मन्त्रेस्मिन् आदित्यस्य सप्ताभिधानानि सन्ति- 'मित्रः अर्यमा, भगः तुविजातः, वरुणः, दक्षः, अंशूचेति तैत्तिरीयारण्यकस्य प्रथमे प्रपाठकेऽपि आदित्यस्याष्टनामानि दृश्यन्ते 'मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा च अंशुश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते।' 'इमा गिर' इत्यस्य मन्त्रास्यार्थे महर्षिणा यास्केन तुविजात् इत्यस्य धाता अंशश्चेत्यस्य 'अंशु' इत्यर्थः कृतः।

एवमादित्यस्याभिधानानां पदार्थचिन्तनेन महर्षेः यास्कस्य सिद्धान्तोऽपि परिपुष्टो भवति यद् वेदस्य सर्वे शब्दाः धातुजाः नैव रूढा प्रसिद्धा। धात्वर्थमाधृत्यैव प्रकरणविच्च भूत्वा वेदार्थः सम्यक् भवति नान्यथा। वैदिक शब्दे उदात्तानुदात्तस्वरितादिस्वरं ज्ञात्वा धातुप्रत्ययलोपागमादिव्याकरणमभिलक्ष्य तु अर्थः करणीय एव परं यत्रेदृशीप्रक्रिया न लभेत तत्र तु लोके पदार्थस्य यत् स्वरूपं दृश्यते तं मत्वैव अर्थनिश्चयः करणीयः। मन्त्रे यत् प्रकरणं दृश्यते तं ज्ञात्वैवार्थनिश्चयः करणीयः न पृथकरूपेण। सर्वे वैदिकशब्दाः यौगिकाः नैव रूढा। रूढार्थं मत्वा त्वत्र समुद्र इत्यनेन सागरमेवाभिप्रेतं भवति नान्तरिक्षग्रहणं न चादित्यग्रहणम्। एवं 'यम' इत्यनेन यमराजो गृह्येत नादित्य इति। परं यौगिकवादेन शब्दाः बह्वर्थ काः सन्ति। संयोगेन, वियोगेन, साहचर्येन, अविरोधेन अर्थेन प्रकरणेन लिङ्गेन अन्यशब्दसामीप्येन चार्थनिश्चयः करणीयः अनेकार्थानां वैदिकशब्दानाम्। अत्रादित्याभिधानप्रकरणे भिन्नकालस्यादित्यस्याभिधानं भिन्न एव लक्ष्यते। तस्याभिधानं तस्य स्वरूपपरिचायकः, अन्वर्थसंज्ञा इत्यर्थः। वैदिकभाषायाः समृद्धिरपि सूच्यतेऽत्र। वेदार्थस्य त्रिविधा प्रक्रिया रूढार्थेन नैव भवितुं शक्यते तत्र यौगिकवादमनुसृत्यैव मन्त्रार्थाः सम्भवन्ति। महर्षेः दयानन्दस्य वेदभाष्यं दृष्ट्वापि पदे पदे यास्काचार्यस्य नैरुक्तपरम्परायाश्च यौगिकवादः स्मृतिपथमागच्छति। वेदव्याख्यानं वेद एव निहितं इत्यपि सूच्यते। महर्षिणा यास्केन येऽपि मन्त्रा उदाहरणरूपेण प्रदत्ताः ते सर्वे आदित्यस्य स्वरूपनिर्धारणे समर्थाः। किमधिकम्, वेदार्थज्ञाने यौगिकप्रक्रियामनुसृत्यैव वेदोद्धारो भविष्यति नान्यथेति।

✦✦✦

1. ऋग्वेदः- 2/27/1

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (70-77) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिककालीनऋषिकाः मन्त्रसाक्षात्कारश्च

तरुणा अवस्थी*

कामपि सभ्यताम् अपि च तस्याः सभ्यतायाः उपलब्धिनां एवञ्च श्रेष्ठतायाः मूल्याङ्कनं कर्तुं सर्वोत्तमाधारः तस्याः सभ्यतायाः स्त्रीणां दशायाः अध्ययनं भवति। स्त्रीणां दशया कस्यापि देशस्य संस्कृतेः मूल्याङ्कनं कर्तुं शक्यते यतोहि स्त्रयः एव कस्यापि देशस्य संस्कृतेः मानदण्डाः मन्यन्ते। हिन्दु समाजे एतस्य अध्ययनं निश्चितरूपेण महिलानां गरिमानं द्योतयति। हिन्दूसभ्यता नार्यः कृते अत्यन्तम् आदरपूर्णं स्थानं प्रददाति। एतस्य प्रमाणं वर्तते विश्वस्य सर्वप्राचीनतमकालः वैदिककालः। वेदा एव भारतीयसंस्कृतेः आत्मभूताः, मानवजातेः प्रकाशस्तम्भत्वेन च। विश्वाय संस्कृतज्ञानदानं वेदाः एव दत्तवन्तः। वस्तुतः वेदा एव विश्वशान्ति-विश्वबन्धुत्व-विश्वकल्याणानां प्रथमोद्घोषकाः। वेदज्योतिना आर्यजातेः उन्नतिमार्गः प्रशस्तः। एतदर्थमेव मनुनोक्तम्-

सर्वज्ञानमयो हि सः।[1]

भारतीयसभ्यतायाः सर्वोत्कृष्टकालः वैदिककालः एव मन्यते, इमं कालं यदि सम्पूर्णजगतः सभ्यतायाः श्रेष्ठतमं युगं वदामश्चेत् तर्हि नास्ति अत्र लेशमात्रसंदेहः। वैदिककालादारभ्य वर्तमानकालं यावत् नारी समाजस्य अभिन्नाङ्गं वर्तते। अस्मिन् युगे मन्यते स्म यत् येन प्रकारेण प्रकृतिं बिना पुरुषस्य कार्यम् अपूर्णं विद्यते, तेन प्रकारेण नारीं बिना नरस्य जीवनमपि अपूर्णं वर्तते। अस्माकम् ऋषीणां अवधारणा आसीत्, यत् जीवनरुपी यानस्य तु चक्रद्वयमेव नारीनरश्च। शतपथब्राह्मणे तु कथितं यत्- नारी नरस्य अर्धभागः विद्यते। वैदिकसाहित्यस्य आलोडनेन ज्ञायते यत् तस्मिन् युगे नार्यः समाजे महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते स्म। यत्र तथाविधनारीणां नामानि उपलभ्यन्ते याः विदुष्यः अपि च दार्शनिकाः आसन्। वैदिक काले महिलाछात्राणां द्विविधः विभाजनम् आसीत्।

1. ब्रह्मवादिनी, 2. सद्योवाहा

---

* शोध सहायिका, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

1. मनुस्मृतिः- 02/07
   यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।

ब्रह्मवादिनी आजीवनं धर्मदर्शनयोश्च अध्ययनं करोति स्म तत्रैव द्वितीया अर्थात् सद्योवाहा विवाहपर्यन्तम् अध्ययनं करोति स्म। नारी गृहप्रबन्धनं, पारिवारिकावश्यकतानां पूर्तिं तु करोति स्म किञ्च स्वकीय आत्मविकासे अपि नार्यः पूर्णाधिकारः आसीत्। एतदेव मुख्यकारणमासीत् यत् तस्मिन् समये नारी जीवनस्य प्रत्येकस्मिन् क्षेत्रेऽपि ज्येष्ठतां श्रेष्ठतां च प्राप्तवती। वैदिकसंस्कृतिरक्षणार्थं संहिताकाले समाजे "प्रेरणादायी स्त्रोतांसि भवन्तु, विद्याकेन्द्राणि भवन्तु, तत्त्वसाक्षात्कारिणः सभाः भवन्तु, विनोदोत्सवस्य प्रसङ्गाः भवन्तु, सर्वत्रैव नरनार्यौ द्वौ अपि केन्द्रभूतौ आस्ताम्। विदुषां विदुषीनां च सम्मानः तस्मिन् काले आसीत्।

नारीसमाजं वेदमन्त्राणाम् अध्ययनात् विरतं कर्तुं अद्यतनीयाः पण्डिताः यत् किमपि वदेयुः परञ्च वैदिकयुगे तु स्त्रीणां वेदाध्ययने पुरुषसममधिकारः विद्यते स्म[1]। यथा–मन्त्रद्रष्टारः मधुच्छन्दा, दीर्घतमा, गौतमः, विश्वामित्रः, वामदेवः, अत्रिः, वशिष्ठः, भरद्वाजः, कण्वप्रभृतयः ऋषयः आसन्। तथैव मन्त्रद्रष्ट्यः ऋषिकाः अपि आसन्।

वैदिकवाङ्मये नार्यः स्थानमुच्चं पुनः सम्माननीयम् आसीत्, यतोहि नारी वैदिकसंस्कृतिरक्षणे स्वकीयं विशिष्टं योगदानं दत्तवती। बहूनां विदुषीनां नामानि वैदिकवाङ्मये प्राप्यन्ते। अनेन प्रकारेण बहूनां विदुषीनां नामानि प्राप्यन्ते याः दर्शनादि ऐतिहासिकसिद्धान्तेषु पण्डिताः आसन्। शौनकविरचित **'बृहद्देवता'** नाम्निपुस्तके २७ ऋषिकानामुल्लेखः प्राप्यते। **'बृहद्देवतायाम्'** ऋषिकानाम् त्रिषु वर्गेषु विभाजनं कृतम्।

घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती॥
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्रिः सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः॥

१. प्रथमवर्गे ताः ऋषिकास्सन्ति, यासां दृष्टसूक्तेषु विभिन्नदेवतानां स्तुतिपरकमन्त्राः विद्यन्ते–घोषा, गोधा, विश्ववारा, रोमशा, अपाला, उपनिषद् जूहू, ब्रह्मजाया, अगस्त्यस्वसा अदिति।

२. द्वितीयवर्गे ताः ऋषिकाः सन्ति, यासांदृष्टसूक्तसंवादात्मकानि विद्यन्ते– इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, ऊर्वशी, लोपामुद्रा, नदी, यमी, शाश्वती।

---

1. ऋग्वेदः–10/109/04
देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।।

३. तृतीयवर्गे ताः ऋषिकास्सन्ति, याः स्वयं देवताः अपि सन्ति तथा च तासां दृष्टसूक्तानि अपि सन्ति- श्री, लाक्षा सार्पराज्ञी, वाक्, मेधा, दक्षिणा, रात्रि, सूर्या, सावित्री।

ऋग्वेदे चतुर्विंशतिः (24), अथर्ववेदे पञ्च (5), मन्त्रद्रष्ट्यः ऋषिकाणां उल्लेखः प्राप्यते। ऋग्वेदे चतुर्विंशतिऋषिकाभिः चतुर्विंशत्यधिक-द्विशतमन्त्राणां (224) साक्षात्कारः कृतः। तथैव अथर्ववेदे पञ्चऋषिकाभिः अष्टनवतिउत्तरएकशत-मन्त्राणां (198) साक्षात्कारः कृतः। आहत्य वेदेषु द्वाविंशत्यधिक-चतुर्शतमन्त्राणां (422) साक्षात्कारः ऋषिकाभिः कृतः[1]।

ऋग्वेदे (224 मन्त्राः)

क्र.	**ऋषिका**	**मन्त्रसंख्या**	**सन्दर्भः**
1.	सूर्यासावित्री	47	10.85
2.	घोषा कक्षीवती	28	10.39,40
3.	सिकता निवावरी	20	9.86
4.	इन्द्राणी	17	10.86,10.145
5.	यमी वैवस्वती	11	10.10,10.154
6.	दक्षिणा प्राजापत्या	11	10.107
7.	अदिति	10	10.72,4.18
8.	वागाम्भृणी	8	10.125
9.	अपाला आत्रेयी	7	8.91
10.	जुहू ब्रह्मजाया	7	10.109
11.	अगस्त्यस्वसा	6	10.60
12.	विश्ववारा आत्रेयी	6	5.28
13.	उर्वशी	6	10.95
14.	सरमा देवशुनी	6	10.108
15.	शिखण्डिन्यौ अप्सरसौ	6	9.104
16.	पौलोमी शची	6	10.159
17.	देवजामयः	5	10.153

1. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति पृ. 47-48, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

18.	श्रद्धा कामायनी	5	10.151
19.	नदी	4	3.33
20.	सार्पराज्ञी	3	10.189
21.	गोधा	1	10.134
22.	शश्विो आंगिरिस	1	8.1
23.	वसुक्रपत्नी	1	10.28
24.	रोमशा ब्रह्मवादिनी	1	1.12

अथर्ववेदे, 198 मन्त्राः

क्र.	**ऋषिका**	**मन्त्रसंख्या**	**सन्दर्भः**
1.	सूर्यासावित्री	139	14.1,2
2.	मातृनामा	40	2.2,4.20,8.6
3.	इन्द्राणी	1	20.126
4.	देवजामयः	5	20.93
5.	सार्पराज्ञी	3	20.48[1]

वस्तुतः वैदिकयुगे मन्त्रद्रष्ट्यः विदुष्यः आसन्। याः वैदिकसंस्कृतिरक्षणे स्व-स्वयोगदानं दत्तवत्यः। एतासु -

1. अदिति-

ऋग्वेद संहितायाम् 'अदितेः' सर्वाधिकचर्चा विद्यते। मन्त्रदर्शीनारीसु अदितिः एव एकाकिनी तादृशी नारी विद्यते यस्याः नामोल्लेखः ऋग्वेदे अशीतिः (80) बारं प्राप्यते। अदितिः इन्द्रमाता रूपेण विख्याता वर्तते। अदितिः मन्त्रद्रष्ट्री नारी अस्ति, यया स्व तपश्चर्यया ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य 72तमस्य सूक्तस्य सम्पूर्णनवमन्त्राणां साक्षात्कारः कृतः। अदिति महर्षिकश्यपस्य धर्मपत्नी आसीत्। यदा प्रहलादस्य पौत्रः बलिः द्वारा अमरावती बलात् ग्रहीता तदा अदिति पयोव्रतोद्यापनसमये विष्णोः उपासनां कृतवती। प्रतिफलत्वेन विष्णुः अदितेः गर्भं प्रविश्य वामनावतारं गृहीत्वा देवसंस्कृतेः रक्षणं कृतवान्। अत्यन्तमहत्त्वभूता अदिति एतदर्थं विश्वदेवतारूपेण प्रतिष्ठिता[2]।

---

1. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति पृ. 48
2. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 115-120

2. अपालाः-

अपाला ब्रह्मवादिनीरूपेण प्रसिद्धा विद्यते शरीरे कुष्ठचिह्नकारणात् तस्याः विवाहे समस्या जाता। विवाहानन्तरं प्रियसौभाग्यं न प्राप्तवती एतदर्थं तपोमार्गं प्रति सा प्रविष्टा। इन्द्रः तपस्यां दृष्ट्वा तस्याः रोगनिवारणं कृतवान्। अर्थात् अपालायाः स्वतन्त्रसाधनाकारणात् एतत्सिद्धमभवत्। वस्तुतः अपाला परिस्थितिना सह पराजयं न स्वीकृतवती। सा स्थापितवती यत् वैदिककालिक-नारी स्वाभिमानं न त्यजति[1]।

3. घोषाः-

घोषा वेदप्रचारिका ब्रह्मचारिणी आसीत्। वैदिकमन्त्राणां साक्षात्कारं कृतवत्यै घोषायै ज्ञानस्य प्राप्तिः स्व पैतृकपरम्परया जाता। घोषा शब्दः अर्थविशेषस्य सूचकः यं सर्वसामान्यनार्यः नरः वा न प्राप्तुं शक्नोति। वैदिकयुगे वेदप्रचारिका-ब्रह्मचारिणी कन्या एव 'घोषा' एतस्य नाम्नः अधिकारिणी भवति स्म। ऋग्वेदे स्वद्रष्टसूक्ते[2] ब्रह्मचारिणी कन्याविषये प्रार्थनां करोति। तदनुसारेण ब्रह्मचारिण्यः कन्याः यज्ञकार्ये संलग्नाः भवन्ति[3]। घोषा स्वयमेव घोषणां करोति। "अहं राजकन्या घोषा सर्वत्र वेदप्रचारं करोमि। वेदसन्देशं सर्वत्र प्रसारयामि। देवानां यशोगानं कृत्वा विद्वद्भिः सह चर्चयामि। एतदर्थं हे देव! मन-इन्द्रियाणां दमनं करोतु"[4]। वस्तुतः स्वद्रष्टसूक्तानां ऋक्षु घोषया सुन्दरशैल्या सत्यवाण्याः, श्रेष्ठकर्मणः, प्रखरबुद्धेश्च प्रतिपादनम् कृतम्। ऋषिभिः सह बहव्यः ऋषिकाः अपि वेदसंस्कृतिरक्षणे संहिताकाले निरताः आसन्[5]।

4. जुहूः-

वैदिकसंहितानां सूक्तमन्त्राणां ऋषिकासु जुहूब्रह्मजायायाः नाम आदरेण विद्वान्सः स्वीकुर्वन्ति। सा ब्रह्मज्ञानिनः पत्नी आसीत् एतदर्थं 'ब्रह्मजाया' इति उपाधिं प्राप्तवती। जुहू स्वद्रष्टसूक्ते उक्तवती यदा वैदिकप्रक्रियाः नष्टाः भवन्ति तदा राजा किम् किम् कुर्यात्? प्रायश्चित्तनिर्णये निर्णायकमण्डले नर-नारीणां आवश्यकतायाः उपरि बलं दत्तवती। जुहूद्रष्टमन्त्राः अद्यापि प्रेरणादायकाः सन्ति[6]।

---

1. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 122-124
2. ऋग्वेद-10/39,10/40
3. ऋग्वेद 10/40/04
4. ऋग्वेद 10/40/05
5. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 124-128
6. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 128-130

5. दक्षिणाः-

दानप्रतिपादिकायाः ब्रह्मवादिनीदक्षिणायाः द्रष्टसूक्ते[1] स्पष्टं भवति। यत् सूर्य-चन्द्रमा-वायु-पक्षी-पुष्प-वृक्ष-नद्याः कथं मानवजीवने उपकारं कुर्वन्ति? अनेन सूक्तेन दक्षिणा "दानपरम्परायाः प्राचुर्यं समाजे कथं भवेत्" इति वर्णयति। वस्तुतः स्वार्थि-लोलुपजनानां कृते मार्गदर्शनं कृतवती[2]।

6. रोमशाः-

बुद्धेः उपासिका ब्रह्मवादिनी 'रोमशा कक्षीवान्', एषा नारी तासां सर्वासां वार्तानां प्रचारं कृतवती, याभिःस्त्रीणां बुद्धिविकासः भवति। वेद-वेदाङ्गानि एतस्याः रोमवत् आसन्, अतः एतस्याः नाम 'रोमशा' इति जातम्। बुद्धेः उपासिका 'रोमशा कक्षीवान्' ऋग्वेदे प्रथममण्डले सप्तऋचां साक्षात्कारंकृतवती। एतस्मिन् सूक्ते सा चर्चा कृतवती[3]। यत् स्त्रीणां बुद्धिविकासः कथं भवति? वैदिकपद्धतेः प्रचाराय कीदृशस्य ज्ञानस्य आवश्यकता भवति? सा अत्र उद्यमशीलपुरुषं प्रति कार्तज्ञं अपि विभर्ति[4]।

7. लोपामुद्राः-

वैदिक संहितासु मन्त्रद्रष्टानारीषु लोपामुद्रायाः स्थानं स्ववैशिष्ट्यं प्रतिपादयति। तस्याः दृष्टिः 'वरमेको गुणी पुत्रो' सदृशा अस्ति। सा पितुरिच्छा निमित्तं राजवैभवं त्यजति। ऋषि-अगस्त्येन सह विवाहं करोति। सत्पुत्रप्राप्त्यर्थं गर्भाधानपूर्वं यत् आवश्यकं भवति तद्विषये बहु गम्भीरा चर्चा सा उपस्थापयति। कामवासनानां मानसिकदुर्बलतानां शमनं कृत्वा पुत्र प्राप्तिः कथं सम्भवति। एतस्य उदाहरणत्वेन लोपमुद्रायाः जीवनं अस्ति। जीवनं नैतिकं कथं भवति? एतस्य उदाहरणं प्रस्तौति लोपामुद्रा[5]।

8. वागाम्भृणीः-

नारीरत्नत्वेन अम्भृणी महर्षेः पुत्री प्रसिद्धस्य देवीसूक्तस्य साक्षात्कारं कृतवती। वयं वक्तुं शक्नुमः यत् वागाम्भृणी एव अद्वैतवादस्य प्रथमाचार्या या भगवत्शङ्कराचार्यं सम्बलं अददत्। अनन्तरं भगवत्पादाः शङ्कराचार्यः सनातनधर्मस्य आधारशिलां स्थापितवान्। एषा ऋषिका ऋषीणां अपेक्षया समाजे अधिकम् आदरं प्राप्तवती।

---

1. ऋग्वेद 10/107
2. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 130-132
3. ऋग्वेद 1/126/1-7
4. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 132-133
5. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 133-135

9. विश्ववाराः-

पापमुक्त्यर्थं, दाम्पत्यजीवने सौख्यं इत्यादि विषये ऋषिका विश्ववारा[1] वेदे प्रसिद्धा विद्यते। ऋग्वेदसंहितायाः पञ्चममण्डलस्य द्वितीयानुवाकस्य 28तमस्य सूक्तस्य द्रष्ट्री विश्ववारा विद्यते। अस्मिन् सूक्ते षट् ऋचः वर्तन्ते। एषा ब्रह्मवादिनी आसीत्, यया अस्मिन् सूक्ते दाम्पत्यसुखार्थम्, पापमुक्त्यर्थं च वैदिकमन्त्राणां दृष्ट्रत्वं प्रतिपादितम् अपि च वैदिक धर्मस्य प्रचारः कृतः। विश्ववाराद्वारा द्रष्ट्रसूक्तेन तात्कालिकनार्यः सामाजिकप्रतिष्ठायाः अनुमानं कर्तुं शक्यते[2]।

10. सरमाः-

ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य 108तमस्य सूक्तस्य ऋषिका सरमा विद्यते। अस्मिन् सूक्ते एकादश मन्त्राः सन्ति। येषु 2,5,6,8,10,11 एतेषां मन्त्राणां साक्षात्कारः सरमया कृतः। सरमा देवशुनी दूती रूपेण पणिनां समीपं गतवती। इन्द्रस्य सन्देशवाहिका रूपेण सरमा अस्मिन् सूक्ते कार्यं करोति। यदा सा पणिनां समीपं अधिगच्छति। इन्द्रस्य प्रस्तावं प्रस्तौति तदा पणिभिः तां प्रलोभनं दीयते, यत् सा तेषां पक्षे आगच्छेत्। परञ्च सा साहस्यं प्रदर्शयति अथ च कथयति यत् गौधनं प्रतियच्छन्तु नैव च विभेति। अनेन ज्ञायते यत् वैदिककालीन नार्यः न केवलं रक्षिताः आसन् अपि च स्वरक्षिताः आसन्[3]।

दाम्पत्ये पतिपत्न्योर्मध्ये सुचारुसम्बन्धस्य व्याख्यां शश्वती[4], सूर्यासूक्ते[5] पाणिग्रहणसंस्कारे ऋषिका सूर्या, आदयः चर्चां कृतवत्यः[6]। एतादृश्य इन्द्राणी[7], इन्द्रमातरः[8], इन्द्रस्नुषा[9], रात्रिः[10], गोधा[11], यमी[12], श्रद्धा[13] यमीवैवस्वती[14], शची[15], -

1. ऋग्वेद 5/28
2. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 137-138
3. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 147
4. ऋग्वेद-8/1
5. ऋग्वेद-10/85
6. मालती शर्मा, वैदिक संहिताओ में नारी पृ. 136-137
7. ऋग्वेद 1/22/12
8. ऋग्वेद 10/145
9. ऋग्वेद 10/28/1
10. ऋग्वेद 10/127
11. ऋग्वेद 10/134
12. ऋग्वेद 10/154
13. ऋग्वेद 10/10
14. ऋग्वेद 10/159
15. ऋग्वेद 10/151

सार्पराज्ञी[1], सिकता[2] प्रमृतयः ऋषिकाः स्वद्रष्टसूक्तेषु बहुविध संस्कृतिपरकविषयेषु चर्चां कृतवत्यः।

अतः कथयितुं शक्यते यत् वैदिककालस्य नारीणां स्थितिः समाजे प्रतिष्ठिता आसीत्। अपि च तासां कृते अभिव्यक्तेः पूर्णाधिकारः आसीत्। ताः न केवलं धार्मिकक्रियासु भागं गृह्णन्ति स्म, अपि च पुरोहित-ऋषिणां समं धार्मिकक्रियाः अपि कारयन्ति स्म।

1. ऋग्वेद 10/189
2. ऋग्वेद 10/86

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (78-88) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Role of Yoga in Psychological Attributes of Learned Helplessness and Self-Efficacy : A Conceptual Framework

Radhika Sharma*
Rakesh Kumar**

Abstract

This conceptual paper aims to establish a link between our traditional knowledge of Yoga and the subject of Psychology. The concept of Learned Helplessness and Self-Efficacy are chosen for this purpose. In this regard, the literature concerned is reviewed thoroughly through standard sources including Science Direct, Google Scholar, PubMed etc. Based on the logical and coherent arrangements of research studies, this paper gives a detailed description of the phenomenon of Learned Helplessness. Moreover, it focuses on Self-Efficacy as an immunizer against, and an antidote to the learned helplessness. In the next part, the indigenous knowledge of *Aṣṭāṅga* Yoga as given by the great Sage *Patañjali* is described which significantly enhances self-efficacy of an individual. Thus, through this conceptual paper, it is emphasized that the traditional and indigenous knowledge of Yoga enshrined in our scriptures including *Patañjali's Yoga Sūtra* is relevant today more than ever before. Moreover, the intersection of both the subjects provides us with a very fertile ground for very effective and innovative solutions for human ailments. Next, far-fetching implications of using the knowledge of Yoga in the field of Psychology is discussed. In the last part, the direction for future research in this interdisciplinary area is suggested.

Keywords: self-efficacy, learned helplessness, Yoga, indigenous knowledge

---

* Junior Research Fellow, Department of Psychology, Gurukula Kangri (Deemed to be University), Haridwar, Uttarakhand
* Professor, Department of Psychology, Gurukula Kangri (Deemed to be University), Haridwar, Uttarakhand

Introduction

Human beings have a deep-rooted desire to have control over their internal and external environment. After all, developing control over our environment has ensured our survival. With a sense of control comes the idea of certainty, stability, and also a belief in our own capabilities to turn any unfavourable situation in one's favour. Having control also gives predictive abilities as the outcome can be manipulated by changing the responses. In fact, the process of human evolution has been majorly all about developing more and more control over oneself and the environmental surrounding.

How do different perspectives in Psychology describe development of control in any situation? Behavioural perspective (based on learning theories) believes that the control is developed when either two stimuli are associated (Classical Conditioning), or when our responses are frequently followed by desired outcomes (Operant or Instrumental Conditioning). In cognitive perspective, the cognitions and insight are used to explain the behaviour. A contingency or expectancy is developed when a response often leads to an outcome. Thus, the outcome can be predicted based on the occurrence or non-occurrence of response. But what if the outcome is not contingent on our responses, or the pattern of response-outcome is not stable enough to help develop expectancy?

Here comes the state of learned helplessness. An organism learns to be helpless when it finds the responses have nothing to do with the outcomes. No matter what, the outcome can't be determined or manipulated by the responses. This state is termed as "response-outcome independence". It is learned that response and outcomes are independent of each other. As a result, the organism stops responding at all.

How is Helplessness 'Learned'?

The credit for disentangling the mystery behind learned helplessness goes to Seligman & Maier (1967) based on their triadic experiment. This classic experiment had three groups of dogs. The first group of dogs received shock conditions which it could escape by pushing the panel through its nose (controllable shock condition). The second group was yoked with the first group. It received a shock of the same intensity and duration as was given to the first group, however, it could not, in any way, terminate this shock (uncontrollable shock condition). They would be able to escape the condition only when the yoked dog in the first group

pushes the panel. Their own effort matters little, if at all. And, the third group received no shock (no shock condition). Later, dogs from all the three groups were kept in a shuttle box, wherein they all were exposed to the same shock condition. They could easily escape this shock condition by crossing a low barrier.

As was hypothesized by Seligman & Maier (1967) at the beginning of the experiment, the dogs from the Second group learned to be helpless. Their previous experiences, futile efforts at the shock giving device overpowered their ability to face this new situation wherein they were capable to come out just by jumping over a low wall. Thus, the observations indicated that the animals could learn not to respond at all when faced with 'unavoidable' aversive stimuli. And, later, when there was a major shift in the environment, their past experiences kept them guiding. These findings were later supported by human experiments also.

Except for this, another interesting finding of this experiment was that of those exposed to uncontrollable shock conditions, not all dogs develop helplessness. In fact, one-third of them did not developed helplessness, no matter what. And one-tenth of all the dogs were helpless right from the beginning of the experiment. The then Learned Helplessness hypothesis was not comprehensive enough to explain these findings. To bridge these gaps, this hypothesis was reformulated (Abramson et al., 1978) and the concept of explanatory or attributional style was incorporated. Attribution means assigning causes to the events happening with us. Attributional style means our habitual pattern of assigning causes to events. Helplessness is engendered by the pessimistic attribution of aversive events.

Taking a note of attribution theory of Weiner (1988), the reformulated hypothesis states that attribution of an event can be made on three dimensions: a) Internal-External: Attribution is made to one's own incapacity (internal), or over difficulty of the situation (external), b) Global-Specific: The negative event affects one particular area of life (specific) , or spills into all other areas (global), and c) Stable-Unstable: The attributed cause is going to remain intact in future (stable), or can be changed (instable). Based on these three dimensions, an individual's attributional style can be either optimistic or pessimistic. Pessimistic attributional style involves attributing bad events to internal, global, and stable factors, and good events to external, specific, and unstable factors. An optimistic style is when bad events are attributed to external, specific, and unstable factors and good events to internal, global, and stable factors.

One characteristic feature of learned helplessness is its cross situational consistency. Helplessness induced in a specific condition is generalized to other unrelated areas of life also. In laboratory experiments, Helplessness induced through exposure to uncontrollable noise conditions adversely affected an individual's performance at simple anagram solving tasks. So, learned helplessness can be believed to be an "induced" trait (Hiroto & Seligman, 1975). Further, Helplessness is manifested in form of three deficits: *Affective Deficit* (experiencing negative emotions, including, fear, anxiety, guilt), *Behavioral Deficit* (inability to learn new habits, new response patterns), and *Motivational Deficit* (lack of energy, passive response to the new situation). In the case of human beings, it also includes a fourth deficit: Self-esteem loss (distorts one's own self-concept).

Figure 1 : Antecedent and Consequent of the phenomena of Learned Helplessness

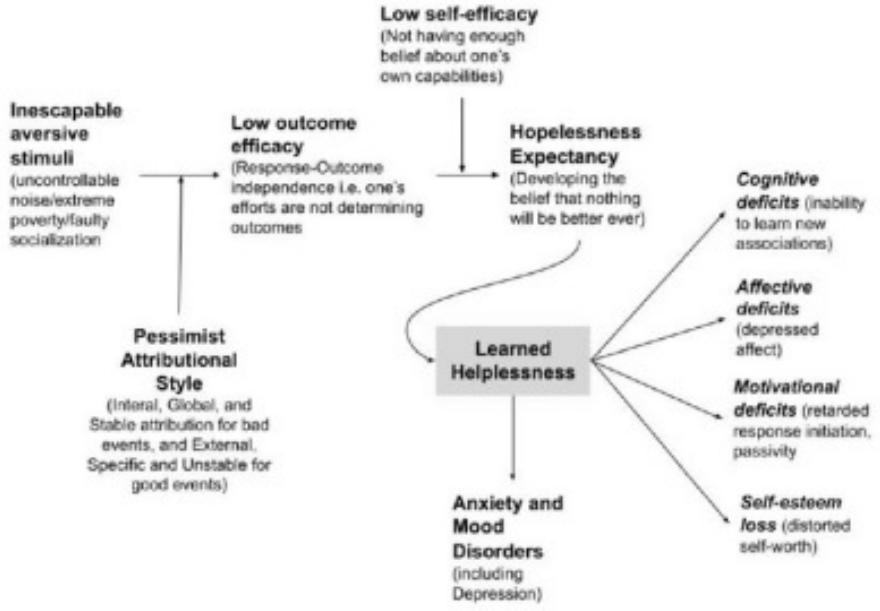

To explain their 'give up' attitude, Bandura (1977) used two concepts. First is 'low outcome efficacy (Response-Outcome independence), that is, they learn that the outcomes are independent of their responses. Nothing matters, no matter what they do. Their responses will not lead to the desired outcomes. Second one is 'low self-efficacy', which means not having belief in one's own capabilities to bring the

change. Both low outcome efficacy and low self-efficacy prepares a ground for the development of helplessness. It is to note that Learned Helplessness along with hopelessness has been found significant predictors of anxiety and mood disorders (including depression), depressive symptoms and suicidal tendencies.

Self-Efficacy: 'I believe I can do it'

Self-Efficacy can be understood as a "person's particular set of beliefs that determine how well one can execute a plan of action on prospective situations" (Bandura, 1977, 1978, 1982; Bandura et al., 1999). It is the self-efficacy that makes a person exert oneself fully in case of aversive situations. Thus, people with high self-efficacy resist longer in case of difficult situations. Bandura (1977) proposed four sources of self-efficacy which include;

1. **Mastery experiences** include one's own successful victory over past challenges. Overcoming difficult situations helps develop belief in one's own capabilities. It is the most effective source of self-efficacy as the person has the direct experience of exerting oneself during tough times.
2. **Vicarious experiences** are those in which the person finds someone else like him surpassing the tough situation. The more similarity in the person and the model, the stronger its effects.
3. **Verbal persuasion** strengthens our self-efficacy when one's family, friends and significant others appreciate one (reinforcement) in case of success and provide us with an uncritical and conducive environment in case of failures.
4. **Physiological and affective states** emphasize on the right state of body and mind. When there is a balanced state at the body-mind level, the person makes sustained efforts for a longer period of time.

Self-Efficacy as Immunization against/Antidote to Helplessness

Research has found that people having higher self-efficacy have low helplessness. Also, it is found that self-efficacy immunizes an individual against helplessness. And, if the state of helplessness is induced, self-efficacy acts as an antidote.

Smallheer & Dietrich (2019) examined the relationship of self-efficacy with learned helplessness in individuals with acute myocardial

infarction (AMI). The recovery of a sample of 75 individuals post-AMI (diagnosed within 12 months) was to be examined. A descriptive cross-sectional design was used for this purpose. Results indicate that learned helplessness has a statistically significant, direct relationship with self-efficacy. Less learned helplessness was found in people with high self-efficacy. Also, in hierarchical multiple linear regression analysis, self-efficacy is found to significantly contribute to the learned helplessness. It also supports the argument that introducing the self-efficacy-based interventions during and after treatment can help counter negative emotions which would significantly improve recovery from life-threatening diseases, including AMI.

In educational set-up, Filippello et al. (2015) made an effort to examine the relationship between parental psychological control (both maternal and paternal) and learned helplessness and the role of school self-efficacy as a mediator in this relationship. The researchers were interested in examining the contextual (psychological control) and personal factors (self-efficacy) as predictors of learned helplessness. The sample comprised 186 students (103 males and 83 females) of 14 to 18 years of age. The statistical analysis of obtained data showed a negative association of parental psychological control (both maternal and paternal) with self-efficacy and positive association with learned helplessness. The mediation effect was analysed using structural equation modeling which showed that school self-efficacy fully mediates the relationship between parental psychological control and learned helplessness.

Figure 2 : Self-Efficacy as Immunizer against Learned Helplessness

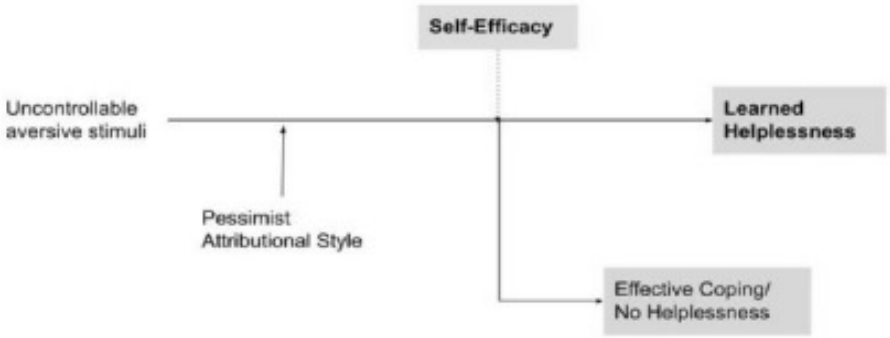

Moyano et al. (2019) conducted a study on fibromyalgia (FM) and rheumatoid arthritis (RA) patients to compare their learned helplessness (LH) and self-efficacy (SE). Also, the correlation of LH and SE with

functional disability, level of perceived pain, and fatigue was also assessed. The sample consisted of 215 patients; 100 with FM and 115 with RA. The data was obtained using highly standardized tools. The statistical analyses showed significantly high LH and depression, and significantly low SE in patients with FM. Further, a positive correlation was found in LH and other variables, including pain, depression and fatigue, whereas SE showed a negative correlation. In comparison to patients in remission or low disease impact, LH was higher in patients with active disease or high disease impact.

In their study, Sorrenti et al. (2017) examined the role of personality traits and academic beliefs, including self-efficacy as predictors of mastery orientation (MO) and learned helplessness (LH). The sample comprised 196 middle school students (111 males, 85 females). Results showed positive correlation of emotional instability with learned helplessness and negative correlation with self-efficacy. Regression analyses indicated that school self-efficacy, along with other personality traits significantly predict LH and MO in students.

Indian Traditional Wisdom of Yoga

"yogaḥcittavṛtti nirodhaḥ" *(Samādhi Pāda, Yoga Sūtra 2, Sage Patañjali)*. That is, "Yoga is restraining the mind-stuff *(citta)* from taking various forms *(vṛtti)*" (Sage Patañjali). The word *'Yoga'* comes from the Sanskrit root *'yuj'*. The literal meaning of the word Yoga is the "union"; union of 'atma' (the current state of lower self) with 'paramatma' (the potential state of higher self). Thus, the practice of Yoga is all about uniting one's own self to the higher self by elevating one's consciousness. Apart from the most authentic Yoga *Sūtra* of Patañjali, the idea of Yoga is propounded in various Indian scriptures, including Bhagwad Gita.

In his Yoga *Sūtra*, the great Indian sage Patañjali talks about the concept of A*ṣṭāṅga Yoga* (Eight-limbed approach). These Eight limbs of Yoga start from

1. *yama* (practising five social ethics, including *satya* (striving towards truthfulness), *ahiṁsā* (non-violence), *asteya* (non-stealing), *brahmacarya* (practicing celibacy) and *aparigrahāḥ* (not accumulating things unnecessarily),
2. *niyama* (practicing five internal disciplines, including *śauca* (cleanliness of body and mind), *saṁtoṣa* (contentment), *tapaḥ*

(austerity and self-discipline), *svādhyāya* (study of self) and *īśvarapraṇidhānā* (surrendering to the almighty),

3. *āsana* (practicing different postures or meditative states),
4. *prāṇāyāma* (includes breath controlling exercises), and progress through
5. *pratyāhāra* (proper regulation of life force (prāṇa) through certain breathing techniques) (overpowering one's senses, moving inward one's senses),
6. *dhāraṇā* (developing laser-like focus),
7. *dhyāna* (achieving everlasting meditative state), and finally move towards realizing the highest state of
8. *samādhi* (achieving the highest state of consciousness or union or integration with one's higher self).

How Does Yoga Enhance Self-Efficacy?

An effort has been made in this paper to find a link between sources of self-efficacy as propounded by Bandura and eight limbs of *Aṣṭāṅga* Yoga as propounded by Sage *Patañjali*. First source is Mastery experiences, that is successfully overcoming any tough situation. The initial four limbs of *Aṣṭāṅga Yoga*, including yama, niyama, *āsana*, *prāṇāyāma* act as mastery experiences. Next is, vicarious experiences, that is observing others successfully overcoming the challenges. The practice of *svādhyāya* and reading our ancient scriptures can help in this. Next, verbal persuasion, that is, being appreciated for right acts. What can be better than the company of an enlightened guru for verbal persuasion! And the last is Emotional and physiological states, that is, the right state of body and mind. The last four limbs including *pratyāhāra*, *dhāraṇā*, *dhyāna*, and *samādhi* bring an individual to an optimum emotional and physiological state. Therefore, Yoga can be used as an effective source for enhancing self-efficacy.

Figure 3 : Relationship Between Sources of Self-Efficacy and Yoga

Conclusion

As we have seen, various environmental conditions, including faulty socialization can induce the state of helplessness. But as helplessness is learned, it can be 'un' learned. However, this unlearning process requires high self-efficacy. Self-efficacy ensures adaptive coping which prevents helplessness. In this regard, Yoga can be used as a medium to build self-efficacy and resilience in an individual so that when exposed to any threatening situation, they don't get bogged down. And, in fact, take this difficult situation as a great learning opportunity.

Implications

In 2016, the ancient Indian practice of Yoga got official recognition at international level, when it was inscribed in the UNESCO List of Intangible Cultural Heritage of Humanity (UNESCO, 2017). Moreover, India's proposal to mark a day as Yoga Day got wide support at the United Nations. Since 2015, 21st June has been celebrated as International Yoga Day throughout the world with great enthusiasm. Yoga is a proud symbol of India's traditional and indigenous knowledge. This rich resource needs to tapped for the well-being of the humanity

1. For preventive care, Yoga based mental health promotion strategies can be developed.
2. Yoga based interventions, primarily targeting self-efficacy can go a long way in treating helplessness symptoms.
3. The role of Yoga in other psychological attributes can be explored.

4. Yoga becomes more important for vulnerable sections, including elderly people, people with chronic, communicable and non-communicable illness, and psychological disorders.
5. At national and global level, Yoga can be used as human resource management - stratigy.

Scope for Future Research

The subjects of Yoga and Psychology share an overlapping area which needs to be explored. This conceptual paper attempts to open up a wide area of research in this trans-disciplinary arena. In this regard, attempts can be made to link other concepts of psychology with Yoga. Moreover, experimental, longitudinal research can be planned to support and verify the knowledge present in our scriptures.

References

Abramson, L. Y., Seligman, M. E., & Teasdale, J. D. (1978). Learned helplessness in humans: Critique and reformulation. *Journal of Abnormal Psychology*, 87(1), 49-74. https://doi.org/10.1037/0021-843X.87.1.49

Bandura, A. (1977). Self-efficacy: Toward a unifying theory of behavioral change. *Psychological Review*, 84(2), 191-215. https://doi.org/10.1037/0033-295X.84.2.191

Bandura, A. (1978). Reflections on self-efficacy. *Advances in Behaviour Research and Therapy*, 1(4), 237-269. https://doi.org/10.1016/0146-6402(78)90012-7

Bandura, A. (1982). Self-efficacy mechanism in human agency. *American Psychologist*, 37(2), 122-147. https://doi.org/10.1037/0003-066X.37.2.122

Bandura, A., Freeman, W. H., & Lightsey, R. (1999). Self-Efficacy: The Exercise of Control. *Journal of Cognitive Psychotherapy*, 13(2), 158-166. https://doi.org/10.1891/0889-8391.13.2.158

Filippello, P., Sorrenti, L., Buzzai, C., & Costa, S. (2015). Perceived Parental Psychological Control and Learned Helplessness: The Role of School Self-efficacy. *School Mental Health*, 7(4), 298-310. https://doi.org/10.1007/S12310-015-9151-2/FIGURES/1

Hiroto, D. S., & Seligman, M. E. (1975). Generality of learned helplessness in man. Journal of Personality and Social Psychology, 31(2), 311-327. https://doi.org/10.1037/H0076270

Moyano, S., Scolnik, M., Vergara, F., García, M. V., Sabelli, M. R., Rosa, J. E., Catoggio, L. J., & Soriano, E. R. (2019). Evaluation of Learned Helplessness, Perceived Self-efficacy, and Functional Capacity in Patients With Fibromyalgia and Rheumatoid Arthritis. *Journal of Clinical Rheumatology : Practical Reports on Rheumatic & Musculoskeletal Diseases*, 25(2), 65-68. https://doi.org/10.1097/RHU.0000000000000769

Seligman, M. E., & Maier, S. F. (1967). Failure to escape traumatic shock. *Journal of Experimental Psychology*, 74(1). https://doi.org/10.1037/h0024514

Smallheer, B. A., & Dietrich, M. S. (2019). Social Support, Self-Efficacy, and Helplessness Following Myocardial Infarctions. *Critical Care Nursing Quarterly*, 42(3), 246-255. https://doi.org/10.1097/CNQ.0000000000000265

Sorrenti, L., Filippello, P., Buzzai, C., Buttò, C., & Costa, S. (2017). Learned helplessness and mastery orientation: The contribution of personality traits and academic beliefs. *Nordic Psychology*, 70(1), 71-84. https://doi.org/10.1080/19012276.2017.1339625

UNESCO. (2017). Yoga - intangible heritage - Culture Sector - UNESCO. https://ich.unesco.org/en/RL/yoga-01163

Weiner, B. (1988). Attribution theory and attributional therapy: Some theoretical observations and suggestions. *British Journal of Clinical Psychology*, 27(1), 99-104. https://doi.org/10.1111/J.2044-8260.1988.TB00757.X

Vivekanand, S. (2020). Samādhi Pāda: Yoga Sūtra 2. In *Patañjali yoga sūtras* (pp. 13-16). Vijay Goel.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (89-97) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Psychological Insights from Śrīmadbhagavadgītā

Dr. Chinu Agrawal*
Pratiksha Tripathi**
Aashi Jain***

Abstract

The article gives a short overview of the learnings and teachings of the Śrīmadbhagavadgītā as not only a sacred religious text but also one of the prominent precedents of psychotherapy in its purest form. There are instances and verses reflected in the article which entail the in-depth knowledge and applications of psychological principles like cognitive distortion, emotional underpinning, mechanism of the human mind, various therapies like CBT and REBT, and much more. Śrīmadbhagavadgītā is a source of enlightenment and cultivation of higher cognition and consciousness which is beneficial to all communities and society as a whole. Parents, educators, and professionals can learn a great deal about daily life applications and conflict resolution by imbibing the principal psychological depictions of the Gītā.

Śrīmadbhagavadgītā is said to be the answer to many of our conflicts in today's world. It is claimed that the teachings of the Gītā have the power to take us from a state of inaction, anxiety, and depression to a state of action and conflict resolution (Barmola, 2020). For psychology scholars, Śrīmadbhagavadgītā offers a valuable case study for lessons in psychotherapy. Many famous people have drawn inspiration from the Śrīmadbhagavadgītā which showed them a way of life during their life's adversities. Mahātmā Gāndhi said, "My life has been full of external tragedies and if they have not left any visible effect on me, I owe it to the

* Ph.D. in Psychology
** MA in Clinical Psychology
*** M.Sc. in Clinical Psychology

teaching of Śrīmadbhagavadgītā" (Balodhi, 2011; Mukherjee, 2012; Bhatia et al., 2013; Shankaran, 2021).

There are so many hidden psychological truths in Gītā that are waiting to be unravelled (Mukherjee, 2012). Many psychologists and famous people not only in India but abroad also have talked about the psychological insights that we get from Śrīmadbhagavadgītā and here in this article I would like to talk about the same.

Gītā has become a universal book because it has many layers and people relate to it as per their understanding. The outer layer is the scripture that contains language or words. The second layer is the general religious interpretation. The saints and monks use those for their teachings. The third layer talks about psychological truths. It is the universal truth beyond religion and international boundaries. This psychological truth appeals to anyone who has heart and mind, be it in India or abroad. The deepest layer harbours the spiritual truth (Dillbeck, 1985; Malinar, 2007; Mukherjee, 2012).

The learnings of the Gītā are simple enough for people to practice in everyday life. To start with, the Gītā has 18 chapters and 700 verses. The dialogues in Gītā are mostly between Arjuna and Lord Śrī Kṛṣṇa and were said on the battlefield of Kurukṣetra where Arjuna is standing against his extended family, his cousins, and teachers to fight for justice. Realizing that he has to fight with his loved ones and elders, Arjuna feels demotivated, anxious, and depressed and he became incapable to take any action (Bhatia et al, 2013; Rama, 2008; Bhawuk, n.d).

This is a book of motivation because it is dealing with the demotivated Arjuna who was made aware of the universal truth of life in 90 minutes by Lord Śrī Kṛṣṇa. This can effectively be called a psychotherapy session. The entire message of the Gītā is in the second chapter where Lord Śrī Kṛṣṇa speaks of the balanced state of mind, and mental equipoise. Gītā can also be called a Single Session Therapy by Śrī Kṛṣṇa. Śrī Kṛṣṇa acts as a facilitator and helps Arjuna to find the solution. He elaborates on the solution in the 2nd chapter. It is also a journey from blindness to enlightenment (Dillbeck, 1985; Mukherjee, 2012; Pandurangi et al., 2014).

Chapter 1 speaks about the despondency of Arjuna who shows classic symptoms of anxiety and depression that can be correlated with the symptoms of Generalized anxiety disorder and Depression that have

been laid down in the DSM-V. If we talk about the physiology behind Arjuna's symptoms, his mind has perceived the situation to be unpleasant and predicts undesired doomed consequences. To deal with this, his brain gives signals and the sympathetic nervous system gets activated. The sympathetic nervous system, in turn, secretes adrenaline and cortisol. The cortisol is the stress hormone that makes his mind and body see this as a crisis and the primitive brain starts reacting to make it severe. This, in turn, increases the oxygen demand making him take a breath from his mouth, his throat dry, and his extremities are cold and clammy as blood is drawn from the extremities. In psychology, we call it a state of physiological arousal (Bhatia et al., 2013; Pandurangi et al., 2014).

Arjuna also has cognitive distortions about self, others, and the world. He feels that he is incapable of taking any action and that he should be right at all times. He has prejudiced beliefs for others that his extended family and teachers are wrong. He also feels that life is permanent and nothing should change around him. He wants life to be certain and predictable. Through his diagnosis and psychotherapy, Śrī Kṛṣṇa replaces these distorted thoughts and brings a paradigm shift from body consciousness to pure consciousness. Śrī Kṛṣṇa does not get stuck in the loop of his client but emphasizes with him and facilitates his journey. This is what we call thought modification in CBT. As a coucounsellor REBT, we dispute the philosophies of the client about life, self, and others. We learn that pain is inevitable but suffering is a choice. We suffer because we fuse ourselves with the pain (Balodhi, 2011; Mukherjee, 2012; Pandurangi et al., 2014).

Many people have stated that Gītā is Karam Pradhān (action-oriented). But if you look at all the chapters, you will understand that equal weightage is given to all three: Karam, Jñāna, and Bhakti. In psychological terms, we can say actions, thoughts, and feelings. Jñāna is equivalent to the processing of knowledge or our thoughts. Bhakti is equivalent to affect or feeling. This gives us the same cognitive triad that we deal with in psychology. Śrī Kṛṣṇa is appealing to all three: thoughts, feelings, and behaviour and has spoken sufficiently about what kind of thoughts are helpful, what kind of actions we should do, and what kind of feelings we should have at the time of adversities or in happiness (Dillbeck, 1983; Rama, 2008).

In many cognitive therapies in psychology like REBT, and CBT we work on changing cognition and thoughts. We believe that this will

bring change in feelings and behaviours. Some therapies like Behavior modification teach strategies to modify behaviours and further modify thoughts and feelings. Gītā is a holistic therapy that gives importance to all three: thoughts, feelings, and behaviours (Mukherjee, 2012; Reddy, 2012).

Gītā is said to be a guide for solving our present-day problems. We all, our clients are present-day Arjuns. We all are stuck in a loop of anxiety, stress, sadness, demotivation, unsure goals, and loss of direction (Reddy, 2012; Bhattathiri, n.d; Bhawuk, n.d). There is one more psychological truth hidden in chapter 1 verse 1:

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥

In the verse, king Dhṛtarāṣṭra is asking Sanjay about what was going on the battlefield of Kurukṣetra where his sons and nephews gathered to fight and he is in a constant dilemma and conflict about the battle taking place. Mind is also like a Kurukṣetra where constant conflicts take place (Barmola, 2020). Do you remember the conference room of Mind that we learn in Motivational Interviewing?

Chapter 2 in Gītā is Sāṅkhya Yoga, which means something countable. It is said that whatever Lord Śrī Kṛṣṇa has said in chapter 2 is an eternal and universal truth that can be proved. So, everything in this chapter is countable, logical, empirical, evidence-based and scientific. It even has insights that are not there in Darwin's evolution theory. There is in Gītā, chapter 2, verse 13:

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

This verse says about the transmigration of the soul and that everything is temporary, even our thoughts, feelings, and emotions and this is the principle of psychology on which all psychotherapies are based (Balodhi, 2011; Mukherjee, 2012; Pandurangi et al., 2014).

Gītā also touches upon experiential avoidance which is also the principle of ACT (Acceptance and commitment therapy) which tells us not to struggle with the feelings and accept them, feel them, and experience them. This is the principle that modern-day third-generation CBT is based on. We want to be in our comfort zone and we try to avoid all the pain. Śrī Kṛṣṇa says do not go into experiential avoidance. Accept the feeling that

is happening, and do not struggle with that (Rama, 1985; Bhatia et al., 2013; Bhargava et al., 2017, Thakur et al., 2021).

Verse 62, and 63 in Chapter 2 also very beautifully tell us about the case conceptualization of why emotional upset happens:

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

The verses say that either it is because of the reason that we desire something strongly, or we are preoccupied with the thoughts of this object. If the desire does not get fulfilled, we have emotional upsets like anger, anxiety, and depression. We start ruminating more about the object and our memories are destroyed by attachment and anger, and then our intellect is destroyed. This dysregulates our emotions. Gītā gives solutions to break this cycle and it is the same as what a therapist uses in psychotherapy to break the cycle of emotional dysregulation. Many verses of Gītā preach that persistence or practice is very important. In psychology, when we are talking about developing new habits, we talk about neural Pathways and how to develop them. The more we use some pathways, the more they become dominant (Balodi, 2011; Reddy, 2012; Rama, 2013; Bhawuk, n.d).

Interestingly, we get one more important insight from Gītā. When Arjuna is feeling low and despondent and refuses to fight, Śrī Kṛṣṇa first scolds him using abusive language because he is feeling sorry for his student whom he has mentored. But that did not encourage Arjuna and he became even more anxious. This is when Śrī Kṛṣṇa started motivating him and teaching him about universal truths. This is a lesson for today's parents and teachers that a child cannot be motivated using harsh words or language (Nayak, 2018; Bhawuk, n.d).

We can also say that Śrī Kṛṣṇa has all the qualities of a good therapist. To list a few, he did not directly tell Arjuna what to do and what not to do. He asked Arjuna to make a choice after telling him about his choices and their consequences. We all need this person in our life who is basically a friend, guide, and philosopher who facilitates our way forward by giving an opinion to show us our flaws, and motivate us to improve for the better (Dutta, 2014; Reddy, 2012; Kaul, 2017).

Śrī Kṛṣṇa is a very good listener because Gītā is not a monologue but a dialogue. He listens to Arjuna and acknowledges him also when Arjuna says that it is very difficult to practice detachment. The most important thing in psychotherapy is that the client himself should understand that he needs help and seek counselling. Here Arjuna is an insightful client who understands that this is his life's adversity and to take action he needs help from Śrī Kṛṣṇa (Balodhi, 2011; Reddy, 2012; Thakur et al., 2021).

Verse 24 in chapter 1 is given a lot of importance to understanding the qualities of a true leader:

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥

Here Arjuna tells Śrī Kṛṣṇa to take the chariot to the middle of the battlefield where he could see both sides of the warriors fighting. Śrī Kṛṣṇa obeyed his orders. This is a very good example for all the authority figures like teachers and parents. Being a leader does not mean that you should never follow what the child is saying. Best leaders are not the ones who influence others but are the ones who get influenced and take the opinion of others (Dutta, 2014; Nayak, 2018).

One more quality of Śrī Kṛṣṇa that today's therapist should imbibe is to help the client and not partner with his situation to add on to his woes and create more damage. Śrī Kṛṣṇa did not get carried away by Arjuna's woes but helped him seek a solution to his problem by presenting him with choices and consequences. This is expected of parents today. They should teach their children cost-benefit analysis of the decisions and explore with them, represent possibilities and let them decide for themselves. They have to understand that no decision will be risk-free and parents should respect their children's decisions and support them even if they make mistakes (Balodhi, 2011; Reddy, 2012).

A qualitative survey was conducted to ascertain the opinion held towards Śrīmad Bhagavad Gītā's potential as a Psychotherapy. The survey was constructed on Google form platform and shared with various mental health professionals, educators and students in the field of Psychology. An aggregate of 34 professionals, educators and students from different states of India who have read and used Śrīmadbhagavadgītā in their daily life as well as profession gave their responses. Among these professionals, 59% were psychologists, 32% were educators and school counsellors, and 9% included doctors and a monk.

It was also found that most of them (85%) came from a medium socioeconomic status and advanced from both nuclear (52.9%) and joint (41.2%) families. It was found that among them 82% of the professionals have partially or completely read the Śrīmadbhagavadgītā, among which 88.2% agreed with it to be made into a separate form of psychotherapy.

It was also found that the majority of the responders (85%) came from a medium socioeconomic status and advanced from both nuclear (52.9%) and joint (41.2%) families.

Further, most of them come from a psychological background, and through their comment and insights, it was seen that they collectively believe that Śrīmadbhagavadgītā is a profound source of enlightenment, rich in knowledge, and contains insights into every human's emotional state and the dilemma they face in life which is wonderfully portrayed by Arjuna and Dhṛtarāṣṭra, showing two focal points of life with one proceeding towards the right direction and the other towards the wrong one, with Śrī Kṛṣṇa acting as the guide and counsellor. The verses of Śrīmadbhagavadgītā apply to multiple problems in life and can be used to treat mental health problems, help in maintaining well-being, and restore homeostasis to one's life. In short, it acts as a "manual of life" as commented by one professional.

In conclusion, Gītā says that every action that we do will have a natural outcome. Problem is that we do not want a natural outcome. We want an expected or feared outcome. Studying less and expecting more marks is the expected outcome and if we have studied so much and still have the fear of not passing is a fearful outcome. In today's world, this is the cause of all anxiety and depression. Gītā gives us the lesson to attain self-actualization which is also the top level of Maslow's hierarchy in psychology, making us more aware and reality-oriented (Mukharjee, 2012; Agrawal, 2021).

References

- Agrawal, J. (2021). Self in psychotherapy: An Indian perspective. *International Journal of Yoga-Philosophy, Psychology and Parapsychology,* 9(1), 3.
- Balodhi, J. P., & Keshavan, M. S. (2011). Bhagavad Gītā and psychotherapy. *Asian Journal of Psychiatry*, *4*(4), 300-302. https://doi.org/10.1016/j.ajp.2011.10.005.

- Barmola, Kailash. (2020). Bhagavad-Gītā: A Technique of Conflict Resolution. *Amity Business Journal.* Amity University Rajasthan, Jaipur.
- *BhagvadGītā and Psychotherapy*. (1986). Retrieved from https://nimhans.ac.in/wp-content/uploads/2020/10/11.BhagvadGītā-and-Psychotherapy_139-143.pdf.
- Bhargava, R., Kumar, N., & Gupta, A. (2017). Indian perspective on psychotherapy: Cultural issues. *Journal of Contemporary Psychotherapy*, 47(2), 95-103.
- Bhatia, S., Madabushi, J., Kolli, V., Bhatia, S., & Madaan, V. (2013). The Śrīmadbhagavadgītā and contemporary psychotherapies. *Indian Journal of Psychiatry*, 55(6), 315. https://doi.org/10.4103/0019-5545.105557.
- Bhattathiri, M. (n.d.). *Śrīmadbhagavadgītā : A Motivational Management Book*. Retrieved June 15, 2022, from https://sanskritdocuments.org/articles/Bhagavad_Gītā_a_motivational_Management_ book_M_P_Bhattathiri.pdf.
- Bhawuk, D. (n.d.). *Handbook of Indian Psychology 21 Anchoring Cognition, Emotion and Behaviour in Desire: A Model from the Bhagavad-Gītå.* Retrieved from http://thestrategist.in/wp-content/uploads/2014/11/Anchoring-Cognition-Emotion-and-Behavior-in-Desire3.pdf.
- Dillbeck, M. C. (1983). The Vedic psychology of the Bhagavad-Gītā. *Psychologia: An International Journal of Psychology in the Orient*, 26(1), 62-72.
- Dutta, Tinni. (2014). The Śrīmadbhagavadgītā in the Eye of a Psychologist. *Indian Journal of Human Relations*, 51(2), 113-123.
- *Effective leadership traits from Śrīmadbhagavadgītā.* (2017). International Journal of Indian Culture and Business Management. Retrieved from https://www.inderscienceonline.com/doi/abs/10.1504/IJICBM.2018.088593.
- Jeste, Dilip V., and Ipsit V. Vahia. "Comparison of the Conceptualization of Wisdom in Ancient Indian Literature with Modern Views: Focus on the Bhagavad Gītā."
- Psychiatry: Interpersonal and Biological Processes, vol. 71, no. 3, Sept. 2008, pp. 197-209, 10.1521/psyc.2008.71.3.197.

- Kaul, R. (2017, July 26). *Śrī Kṛṣṇa was the world's first counsellor: IMA chief.* Hindustan Times; Hindustan Times. Retrieved from https://www.hindustantimes.com/india-news/mahabharata-offers-answers-on-psychiatric-issues-Śrī Kṛṣṇa-counselled-arjuna-ima-chief/story-38PLCVBtWNbVU1bILEssJP.html.
- Malinar, A. (2007). *The Bhagavad Gītā: Doctrines and Contexts.* Cambridge University Press.
- Mukherjee, A. (2012). Hindu Psychology and the Śrīmad-bhagavadgītā. *Religious Theories of Personality and Psycho-therapy*, 19-84. https://doi.org/10.4324/9780203725238-1.
- Nayak, A. K. (2018). Effective leadership traits from Śrīmadbhagavadgītā. *International Journal of Indian Culture and Business Management*, 16(1), 1-18.
- *Need of Śrīmadbhagavadgītā Concepts to Solve Emotional and Intellectual Conflict - Ignited Minds Journals.* (2019). Ignited.in. Retrieved from http://www.ignited.in/I/a/200746.
- Pandurangi, A. K., Shenoy, S., & Keshavan, M. S. (2014). Psychotherapy in the Śrīmadbhagavadgītā, the Hindu Scriptural Text. *American Journal of Psychiatry*, 171(8), 827û828. https://doi.org/10.1176/appi.ajp.2013.13081092.
- Rama, S. (1985). *Perennial psychology of the Śrīmadbhagavad-gītā*. Himalayan Institute Press.
- Reddy, M. S. (2012). Psychotherapy - Insights from Śrīmadbhagavadgītā. *Indian Journal of Psychological Medicine*, 34(1), 100-104. https://doi.org/10.1177/0975156420120102.
- Shankaran, K.P. (2021, January 30). *Gandhi's Gītā*. The Indian Express. Retrieved from https://indianexpress.com/article/opinion/columns/mahatma-gandhi-Gītā-vaishnava-sect-hinduism-7166738/.
- Thakur, Deepshikha & Kumar, Satish & Subodh, Saurabh & Singh, & Thakur, Gagan & Barnwal, Suresh & Tripathi, Mala & Bhatia, Bhawna & Saxena, Prof. Abhay & Sumit. (2021). Śrīmadbhagavadgītā as a text of counselling-A methodical study with the association of counselling and Psychotherapeutic techniques. *Tòrk Fizyoterapi ve Rehabilitasyon Dergisi/Turkish Journal of Physiotherapy and Rehabilitation.* 32. 30294-30306.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (98-107) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Colour Utilization In Ancient India

Anjali Goel*,
Shikha**

Abstract

The concept of colour is as old as human civilization. From Vedic literature, it was found that the natural colourants were available to human from the ancient times. Colour portrays an crucial role in our life. Though colour we can identify objects, make meanings communicable to others, and interpret occasions and situations etc. Our Indian Vedic literature gives many proofs regarding colour used in ancient times. In this paper, we have selected some period from Vedic time to historic time regarding colour utilization in ancient time.

Keywords: Colour, vedic period, Ṛgveda, *Rāmāyan*, *Mahābhārat*.

Introduction

Nature is full of elegant colours that fascinate human attention. Natural dyes have been utilized since ancient times for colouring of body, food, textiles, leather and things of daily use. The term 'dye' is originated from ancient English word daeg or daeh meaning "Colour". Colour portrays a crucial part in Indian textiles. The affection of bright colour combination like vermilion (red) and yellow, is inherent in the thought of the Indian people. Although in the beginning these colours were borrowed from nature, the people soon attached with great importance, sometimes social and sometimes divine. Several colours are mentioned in vedic texts.[1,2]

* (Professor), Department of Chemistry, Kanya Gurukul Campus, Gurukula Kangri (Deemed to be University), Haridwar, 249407.
** (Corresponding author), Department of Chemistry, Kanya Gurukul Campus, Gurukula Kangri (Deemed to be University), Haridwar, 249407

1. Krizov Hana, Natural dyes: Their past, present, future and sustainability. *Recent developments in fibrous material science. Czech Republic, Ed. Kanina*, (2015), 59-71.
2. Punia Ritu, Dyeing in ancient indian textile: An analytical study. *Ascent International Journal for Research Analysis (AIJRA)*, (2015), 3(1), 1-6.

The colours known the people of vedic period seem to be proved from the occurrence in the *'Rigveda'* and *'Atharva veda'*. Many colours are mentioned in vedic literature.

उप॒ प्र जि॑न्वत्र्यु॒शती॒रुश॑न्तं॒ पति॒ं न नित्य॑ं जन॑यः सनी॑ळाः।
स्वासा॑र॒ः श्याव॑ीमरु॑षीमजुष्र ञ्चि॒त्रमु॒च्छन्ती॑मु॒षसं॒ न गाव॑ः॥

-R.V.1/71/1 //

In this chant three colours i.e (श्याम वर्ण) dark colour, (पीत) yellow and (अरूणिम) red colour are mentioned.[1]

रोह॑ण्यसि॒ रोहण्यस्थन्श्छि॒न्नस्य॒ रोह॑णी।
रो॒ह॒ये॒दम॑रुन्धति॥ A.V. 4/12/1 //

यत्ते॑ रि॒ष्टं यत्ते॑ द्यु॒त्तमस्ति॒ पेष्टू॑ ते आ॒त्मनि॑।

In *'Atharva veda'*, there is a description of medicine named *'lākha'* which is of red colour. [2]

In *'Śri Saraswatī strotra'*, colour of *Mātā Saraswatī*'s dress and her Padmāsana was described. It is said that Goddess *Saraswatī* wore (धावला) white colour dress and her Padmāsana was of (श्वेत) white colour.[3]

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना॥
या ब्रह्माच्युत शंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाडयापहा॥

-Saraswatī strotra

In *'Durgāsaptśatī'*, we get reference regarding colour. It is said that mother Durgā was wearing red colour saree when she was fighting with demon named 'Chund' (चण्ड) and 'Mund' (मुण्ड).[4]

ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वतीं श्यामलाङ्गीं
न्यस्तैकाङ्घ्रिं सरोजे शशिशकलधरां वल्लकीं वादयन्तीम्।

---

1. Sātwalekar Śripad Dāmodar, *'Rigveda Sanhitā', Savādhyāy* Mandal (Pardi).
2. Sātwalekar Shripad Dāmodar, *'Atharava Veda'*, *Savādhyāy* Mandal (Pardi) (1997).
3. *'Śri Saraswatiā strotra'*, Viniyog, 4.
4. *Sāstriā Rāmnārāyan Dutt, Śri Durgās aptsatī*, Gita Press Gorakhpur, Chapter-7, Dhyānam.

क्ह्लाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रां।
मातङ्गीं शङ्खपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भसिभालाम्।।

-Durgāś aptsatī

For *'Upnayan samaskār',* a Brahmacārī had to wear two clothes, one for covering the upper part of the body (uttarīya) and another for the lower part of the body (vasas). In *'Āpstambha',* it is said that the clothes (vasas) for *Brāhamaṇa*, Kṣhatrīya or *Vaiśya* person is respectively to be made of hemp, flax, and ajina (deer skin). Some scholars prescribes that the lower cloth should be of cotton but coloured of reddish yellow for *Brāhamaṇas*, dyed with madder for Kṣhatrīyas, and dyed with turmeric for *Vaiśyas*. *Vasiṣṭha* says that a *Brāhamaṇa* should wear new white colour cloth and for a *Vaiśya* he prescribes that *Vaiśya* should wear cloth made of 'Kusa' grass or should wear undyed cotton clothes.[1]

The *'Śri Rāmcharitmānas'* of *Tulsiādās* describes the body structure of lord *Viṣṇu*. *Tulsiādās* compared the body colour of lord *Viṣṇu* with dark blue colour lotus. He also compared lord *Viṣṇu's* eyes with of budding red colour lotus.

नील सरोरूह स्याम तरून अरून बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन।।

-Śri Rāmcharitmānas

When *Rām* and Lakshman went *Janakpurī* with *Maharīṣhi Vishwāmitra*, then the public of *Janakpurī* describe both the brothers dress. It is said that both the brother were wore yellow colour dress and also put on chandan of same colour on their forhead. [2]

पीत बसन परिकर कटिभाथा। चारू चाप सर सोहत हाथा।।
तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी।।

-Śri Rāmcharitmānas

In Epics *Rāmāyana* and *Mahābhārat,* we get a number of references regarding colour. It is said that in the coronation ceremony of Rām white colour things were used i.e. white flower garland, white flag, and white umberella.[3]

---

1. Murthy H. V, A critical study of upanayana *samaskār*. (1997), 99.
2. *Tulsīdās, Śri Rāmcharitmānas*, Motilal Banarsidass Publishers Pvt.Ltd.
3. Sharma D. P, *Śrimad Vālmīki Rāmāyan*, *'Ayodhayākānda'* 02, (1927), Tritiya sarg 9-10.

शुकमाल्यानि लाजाश्च पृथक्च मधुसर्पिषी।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि॥

चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम्।
चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम्॥

-Ayodhayākānda

In *'Aranaya Kānda'* of Rāmāyana, red colour of lord Indra's clothes was mentioned.[1]

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठक्निभतो रथम्।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्पाणयः॥15॥
विस्तीर्णर्विपुलोरस्काः परिघायतबाहवः।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः॥16॥ -Aranaya Kānd

In *'Vinay-Patrikā',* great poet *Tulsidās* mentioned colour of lord Rām and lord *Śhivā's* clothes. It is said that lord *Rām* wore yellow colour clothes and lord *Śhivā* wore blue colour clothes.[2-3]

जानकीनाथ, रघुनाथ, रागादि-तम-तरनि तारून्यतनु, तेजधामं।
सच्चिदानंद, आनंदकंदाकरं, विस्व-विश्राम, रामाभिरामं॥1॥

नीलनव बारिधर-सुभग-सुभकांति
कटि पीतकौसेय-बर-बसन-धारी।
रत्न-हाटक-जटित-मुकुत-मंडित मौलि,
भानु-सत-सहस-उद्योतकारी॥2॥

-Vinay-Patrikā

देखो देखो, बन बन्यो आजु उमाकंत।
मानो देखन तुमहिं आई रितु बसंत॥1॥

जानु तनुदुति चंपक-कुसुम-माल।
बर बसन नील नूतन तमाल॥2॥ Vinay-Patrikā-14

The *Rāmāyana* also suggests that the wives of *Rāvan* wore multicoloured clothes.

The *Mahābhārat* also suggests to printed cloths. The normal word for printed clothing is *'Chitra Vastra'*. Every character of the *Mahābhārat*

---

1. Sharma D. P, *Śrimad Vālmīki Rāmāyaṇ, 'Ayodhayākāṇḍa'* 04, (1927), Pancham sarg, 15-16.
2. *Tulsīdās, 'Vinay-Patrikā'*, Harishankari Padha, Dev 1-2, 51.
3. *Tulsīdās, 'Vinay-Patrikā'*, Ragvasant, 1-2, 26.

was recognized with a particular colour. Lord *Śri Kṛiṣṇā* wore yellow coloured clothes due to this reason he was also called *'Pitāmbara'* while his elder brother *Balrām* wore blue coloured clothes so he was called *'Nilāmbara'*. *Bheeṣma* always wore white colour clothes. *Yudhiṣṭra* and *Arjuna* used to wear white robes and silver capped ornaments while Duryodhan and Bhima were liked to wear red colour clothes. *Nakul* and *Sahdev* were wore yellow and blue colour clothes. If we talk about ladies garments *Kuntiā*, mother of *Pāndavs* wore white colour saree while *Draupadiā*, wife of *Pāndavs*, wore grey colour saree.[1-2]

In *'Dwārikāpurī'* city of *Śri Kṛiṣṇā,* there are number of references regarding colour. In the south direction of *Dwārikāpurī,* there was a *'Latāveṣṭ'* hill which was of five colours. It was named after Indra's flag which is multicoloured. There was another hill name *'Venumanṭ'* in north direction which was of white colour.

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः॥
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः।
उतरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते॥
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डरः पाण्डवर्षभ।

In the description of *Dwārikāpurī* city, it is said that all the houses were painted by white colour and their roofs were made of gold.

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भ्परिच्छदैः।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितेः।

Śri Kṛiṣṇā's wife palace colour is also mentioned in *'Mahābhārat'*. It is said that *Śri Kṛiṣṇā* second wife named *Satyabhāmā* always lived in white colour palace.[3-5]

---

1. Burman Roy B. K, 'Monograph Series, Textile Dyeing and Hand-Printing in', (2016), Part VII-A (iii),Vol-I.
2. *Sārda Radhika*, Kumar Rajeev, 'The Costumes Of Mahabharat: By The Modern Fashion Designer', *Naveen Shodh Sansār*, (2017), 294-296.
3. *Sāstrī Rāmnārāyan Dutt, Mahābhārat, 'Arghabhiharan Parv'*, Gita Press Gorakhpur, Chapter 28, 712.
4. *Sāstrī Rāmnārāyan Dutt, Mahābhārat, 'Sabhā Parv'*, Gita Press Gorakhpur, Chapter 28, 714.
5. *Sāstrī Rāmnārāyan Dutt, Mahābhārat, 'Arghabhiharan Parv'*, Gita Press Gorakhpur, Chapter 28, 715.

सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम्।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुरू शीतवानिति।।

In *'Śri Viṣṇu Sahasaranāma Stotram',* we get reference regarding colour. It was mentioned that lord *Viṣṇu* wore yellow colour clothes made up of silk.[1]

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं
सपीतवस्त्रं सरसीरूहेक्षणम्।
सहारवक्षः स्थलकौस्तुभश्रियं
नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्।।5।। (ध्यानम्)

In *'Meghdoot', Kālidās* describes the different colour of nature. He mentioned green and yellow colour about the description of nature.[2]

नीपं दृष्टा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढे-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सुचयिष्यनित मार्गम्।। -Meghdoot

Pāṇini refers numerous dyes then recognized, the cloth dyed being named after the dye. *Rāgā* signified both colour and dye stuff. If cloth was dyed with red colour then it was known as *lohitakā*, if dyed with black then it was known as *kālakā. Lākshā* was a famous commercial dye which was produced in India from ancient times. Lacquer work was called *jatushā*. Madder *(manjishthā)*, indigo *(nīlā)*, and orpiment *(rochana)* were also referred as dyes. A cloth dyed in indigo was known as *nīlā*. Haridra and *mahārajanā* are mentioned by *kātyāyanā* as dye stuffs. [3]

In *'Arthśāstra',* Kautilaya described the structure of shawls in three type. In one type of knitting of shawl by cotton , wool or silk, he also mentioned three colours i.e white, blue, and yellow and some other different colours. Kautilaya also mentioned the tree bark colour in his book. It is said that bark of 'nagvrikshikā' is of yellow colour while bark of 'likuch' and 'bakul' tree are of golden and white colour. *'Śhesh badh'* and other trees bark are of white colour like butter.[4]

---

1. *Śri Viṣṇu Sahasaranāma* Stotram', 'Dhyānam' 5 *śloka*.
2. Kālidas, *'Meghdoot'*, Chaukhamba Surbharti Publication Varanasi, 21 śloka.
3. Agarwala V. S, 'India as known to Panini', Economic conditions, Art and crafts, (1953), 230-231.
4. Kautilaya, *'Arthshāstra'*, Chapter-11, 171.

मणिस्त्रिग्धोदकवानं चतुरश्रवानं व्यामिश्रवानं च॥109॥
एतेष मेकांशुकर्मधद्विचित्रिचतुरंशुकमिति॥110॥
तेन काशिकं पौण्डकं च क्षौमं व्याख्यातम्॥111॥
पीतिका नगवृक्षिका॥114॥ गोधूमवर्णा लैकुची॥115॥
श्वेता वाकुली॥116॥ ज्जेषा नवनीतवर्णा॥117॥ -Arthshāstra

During 6-15th century in europian minsters glass windows were tarnished with vibrant colours which were made of Au and other metal oxides and chlorides nanoparticles. During Medieval ages, the metallic nanoparticles of Au and Ag were used as pigments to give dynamic ruby red, and yellow colour to painting and tarnished glasses in minsters.[1]

The most remarkable aspect of the Lycurgus cup is its colour.[2] Nanoparticles have a peculiarity of dichroic filter impact. A dichroic substance represents two disparate colours whether it is seen from the front (reflection) or from the back (transmission). Lycurgus cup is the main example of a dichronic filter, representing a greenish colour when seen from the front and purple colour from back.[3]

Prince *Siddhārtha,* who was known as *'Mahātamā Būddhā'* described his luxurious life as prince. He says that when he was prince he used to delicate, excessively special and his father had made three lotus-ponds of different colour for him. Blue lotuses were bloomed in one, red in another, and white in another.[4] *Buddhīsm* describes fourty subjects of meditation *(Kāmmatthanā)* which are differ according to the temperaments of individuals. The ten kasinas namely, earth kasina, water kasina, fire kasina, air kasina, blue kasina, yellow kasina, red kasina, light kasina, and space kasina. In blue kasina, who is learning the blue kasina apprehends

---

1. Goel Anjali, *'Vaidika Vāg Jyotiḥ, edited by Prof. Dinesh Chandra Sāstrī'*, 8(14) (2020) DP-15 page no. 170-176.
2. Freestone Ian, Meeks Nigel, Sax Margaret, and Higgitt Catherine, The Lycurgus Cup: A Roman Nanotechnology', *Gold bulletin*, 40 (2007), 270-277.
3. Dekker Floris, Kool Lars, Bunschoten Anton, Velders H. Aldrik, and Saggiomo Vittorio., Syntheses of gold and silver dichroic nanoparticles; Looking at the Lycurgus cup Colours', *Chemistry Teacher International*, 3 (2021), 1-6.
4. Mahathera Narada Venerable, *'The Buddha and his teachings'*, BPS, (2021), Chapter-1, 5.

the sign in blue, whether in a flower or in a colour element. Likewise blue kasina, in yellow kasina yellow sign is used.[1]

Mughal era is well known for its ornamental art and intricate and precision of designing and placement of motifs which were practised on textiles and architectonic constructions in Mughal period. Motif is an element of pattern, picture, or part pf one or more ideas. On the basis of motifs utilized in Indian Mughal era these can be classified into four disparate categories; Islamic geometrical motifs, naturalistic floral motifs, stylized floral motifs and abstract motifs. Islamic geometrical motifs were based on constructive polygons such as hexagon and octagon. Natural motifs are inspired from nature including flower leaves, birds and animals embroidered on disparate garment very close to natural designs and motifs. Stylized motifs lose its original form as it becomes more ornamental and stylized. In abstract motifs only textures, colour, patterns used to copy from natural species. The most eminent Mughal motifs were iris and narcissus flowers commonly utilized in the borders with tulips, red roses and lilies. *Kashmīr* shawls were the main garment examples of floral motifs. In the period of emperor *Jahāngīr,* floral printed pyjamas were also noticed.[2]

It was mentioned in Klingelhofer that Akbar's Tomb at Sikandra decorated with the combination of white marble and red sand stone with their contrasting colours and textures.[3]

A small stone sculpture with a cloak thrown over the left shoulder referred as the *'Priest-King'* is one of the most well known example of a textile from the site of *'Mahanjo-daro'*. When the sculpture was first explored, the trefoils and circles were filled with red pigment and the background was filled with a dark pigment that may have initially been green or blue. The original stone of white colour would have been visible in the form of circle, resulting in a striking pattern made of green or blue

---

1. Buddhaghosa Bhadantacariya, *'The path of purification: Visuddhi-magga', Pariyatti,* (2020).
2. Kumari Annu, 'Elucidation of relationship between clothing silhouette and motifs with Indian Mughal architecture', *Fashion and Textiles*, 6(1), (2019), 1-23.
3. Jamil Farah, and Gulzar Saima, 'Historical Development Of Dado Ornamentation In Mughal Architecture', *Structural Studies, Repairs and Maintenance of Heritage Architecture XV, 171*, (2017), 97.

with red and white designs. Pattern of this type using indigo, madder, and bleached cotton is still normally used in the printing of ajark black prints in modern Sindh, Gujrat, and Rajisthan.

Terracotta marionette from the site of Mehrgarh and the nearby site of Nausharo include ladies marionette with elaborate headdresses and gents marionette with pantallons and turbans. The black painted designs on some turbans may illustrate black goats wool or deep indigo dye was utilized to make ornamental woven bands.[1]

In 'Sumer' (the earliest known civilization historical region of southern 'Mesopotamia'), there are few proofs for the dyeing of fibers. In the colours white, black, and red or brown most favourably were naturally coloured wools straight from sheep or probably goat hairs, which could be mixed with wool. During the Uruk III period in the Umma texts, the multicoloured fabrics of yellow and green colours were recorded.[2] The earliest written data of the application of natural dyes was found in China dated 2600 BC. Egyptian mummies have been found covered in cloth dyed from the madder plant.[3]

In *'Jhānsī',* the administration of *Rānī Lakṣmī* was dynamic and firm. She launched a mint, distributed food and clothing to the needy, and saw that the public share was preserved. *Lakṣmī* daily went beyond the city wall to pray at the Goddess temple. She comfortably went among the town's people, sometimes in a white colour saree. In the Haldi-Kunku festival an image of Goddess was placed in *darbār* of palace decorated with, roses, lilies, and marigold. All the women were invited to honour the Goddess. *Rāni* went to welcome her guests wearing a white saree and pearl necklace. "*Rāni* of *Jhānsī* had been killed, the *Rānī* of *Jhānsī*, the Indian Joan of arc, was killed in his charge dressed in a red jacket and trouser, and white puggery".[4]

---

1. Kenoyer Mark Jonathan, 'Ancient textiles of the Indus Valley region', *Tana Bana: the woven soul of Pakistan*, (2004), 18-31.
2. Wright P. Rita, 'Sumerian and Akkadian industries: Crafting textiles', *The Sumerian World*, (2013), 419-442.
3. Bafana Amit, Devi Saravana Sivanesan, and Chakrabarti Tapan, *Environmental. Reviews*, 19 (2011), 350-370.
4. Chapman Lebra Joyce, J., 1986. *The Rani of Jhansi: A Study in Female Heroism in India.* Honolulu: University of Hawaii Press (1986).

Conclusion

From the above discussion, it can be calculated that knowledge of colour was as old as our Vedas. From the records, it is seen that natural colourant were available to people from vedic times. In the early vedic period, there were not practiced techniques of dyes but colour was recognized due the existence of natural colourants. With the development of civilization, weaving of clothes was considered to be a very needful job. Generally people wanted to make their garments beautiful for which it was important to make attractive designs on them. Due to this reason, dyeing portrayed a crucial character. Nowadays, synthetic dyes rapidly replaced the typical natural dyes because these are of low-cost in comparison of natural dyes and offered a wide range of new colours which imparted better qualities to the dyed substances.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (108-124) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Leadership Concepts in Yogic texts

Neha Pradeep Sangodkar**

Rudra Bhandari*

Pintu Kumar Mahto**

Abstract

Leadership is one of the essential human characteristics for self-management, business management, nation-building, social transformation, global peace, and harmony. This paper offers professionals navigating negative corporate karmas a road map for overcoming self-defeating habits and managing the mind's negative chatter, frequently the greatest obstacle to effective Leadership. This research offers hope for harmonious workplace relations and a safe, harmonious work environment. Several contemporary leadership theories and styles apply to various management contexts and periods; however, yogic texts' leadership concepts, processes, and practices appear to be more enduring. In contrast, the hidden ideas of leadership contained in Yogic texts in their respective terminologies and styles are not extensively explored, emphasized, synthesized, or innovated concerning contemporary organizational management. Therefore, this paper aims to investigate, discuss, and synthesize the leadership concepts, principles, and practices presented in the Yogic texts-Upanishads, Shrimadbhagavada Gītā, Yoga Sūtras of Patañjali, Haṭha Yoga Pradīpikā, and Gheraṇda Saṃhitā. It will be interesting to revisit leadership paradigms and styles to determine the cause of the numerous unaccounted-for financial frauds and unethical schemes over the past decade.

---

* Ph.D, Assistant Professor, Department of Yoga Science, University of Patanjali, Haridwar, Uttarakhand

** JRF, Department of Yoga Science, University of Patanjali, Haridwar, Uttarakhand

Keywords

Yogic Leadership Style, Shrīmadbhagwad Geetā, Haṭha Yoga Pradīpikā, Upaniṣads, Yoga Sūtras of Patañjali, Gheraṇd Saṃhitā, Leadership.

Background

Diverse yogic texts penned at various epochs of human civilization have formulated concepts and characteristics of the leadership procedure and Leadership practices. As an innate and acquirable human characteristic, leadership is required to implement any vision for material success, inner fulfillment, and enlightenment. Leadership paradigm principles, processes, and practice styles may vary depending on the nature of the work environment. It is possibly one of the most important human traits for self-management, business management, nation-building, social transformation, and global peace and harmony (Kumar et al., 2014). Different leadership theories and styles, such as Servant Leadership (van Dierendonck, 2011), Transformational Leadership (Bass, 1995), and Spiritually-based Leadership (Fry, 2003), are relevant in different contexts and periods; however, the leadership ideas, processes, and practices described in yogic texts appear more integral, timeless, and applicable to all entities of the creation, including the human being. Upanishads, Shrimadbhagavad Gītā (SBG), Yoga Sūtras of Patañjali (PYS), Haṭh Yog Pradīpikā (HYP), and Gheraṇd Saṃhitā (GS) are essential yogic texts that accommodate leadership principles and practices. SBG leadership lessons have been extensively discussed, operationalized, and implemented in contemporary contexts. But modern organizational management does not explore, highlight, synthesize, or innovate the hidden notion of leadership contained in Upanishads, PYS, HYP, and GS in their terminology and styles. Consequently, this paper aims to analyze, discuss, and synthesize the leadership concepts, principles, and practices presented in these yogic texts. It will be interesting to revisit leadership paradigms and styles to determine the cause of the numerous unaccounted-for financial frauds and unethical schemes over the past decade.

Leadership

Leadership is a socially influential process where leaders seek subordinates' voluntary participation to reach organizational goals. It's a process whereby one person exerts social influence over other group

members to achieve the goal in given situations (Bhatti et al., 2012). With the beginning of the twenty-first century, the moral nature of leaders has started to be considered not only necessary for the good of society but also essential for sustainable organizational success (Freeman et al., 2004; Gulati et al., 2010; Padilla et al., 2007). Consequently, moral leadership theories, such as Transformational, Ethical, Authentic, Servant Leadership, etc., have recently received significant attention from the scientific community. However, there still seems to be a lack of integrated approach toward Leadership from the ancient Indian context. We want to put forth the ideology behind Leadership, which refers to the process by which leaders influence society and seek subordinates' voluntary participation to reach organizational goals. One person exerts social influence over other group members. According to Gordon's Allport Trait theory, Some personality traits may lead people naturally into leadership roles. While according to Transformational Leadership, People can choose to become leaders. I.e., People can learn leadership skills (Bass, 1995). One of the early approaches to understanding Leadership was identifying specific "traits" that leaders supposedly possessed. Trait theory believes that leaders are born, not made. It discusses behavior and personality tendencies associated with effective Leadership (Ingram & Cangemi, 2012; Piggot-Irvine & Tosey, 2014). Research has shown that extroverts, which may be an inborn characteristic, have more significant leadership potential than introverts. However, evidence indicates that only socially skilled extroverts emerge as leaders, and it can be safely assumed that social skills are learned. So, there is an urgent need to develop a practical "soft skills" model for building effective Leadership. One of the significant scholarly contributions is a conception of Spiritual-Based Leadership (SBL) (Pruzan & Zsolnai, 2019). SBL is a concept of Leadership in organizations where decision-makers at all levels care about what is truly important in life and integrate this awareness and sensitivity into their Leadership. (Shah et al., 2015). Table 1 in brief illustrates factors or YLS correlated from modern leadership contexts.

Level	**Deals with**	**Factors**	**Type of leadership models using**
BKI	Deals with Body Movement	• Strength • Stamina • Pliability • Dexterity	Multiple Intelligence (Gardner, 1999)

CI	Deals with the thinking Mind	● Quantitative reasoning ● Visual-spatial processing ● Knowledge	Transactional Leadership (Clawson & Bevan, 2008)
EI	Deals with feelings	● Self Awareness ● Handling Relations ● Managing Emotions ● Self-Motivation ● Empathy	Servant Leadership (van Dierendonck, 2011)
SI	Deals with existential	● Visionary ● Persistent ● Holistic ● Compassionate	Spiritual Leadership (Zohar, 1999)
		● Celebration of Diversity ● Field Independence ● Curiosity ● Ability to Reframe ● Spontaneity ● Sence of Vocation ● Humility	
Well-ness	Deals with overall health	● Occupational Wellness ● Physical Wellness ● Social Wellness ● Spiritual Wellness ● Intellectual Wellness	Transformational Leadership (Bass, 1995)

Table 1. Correlation of YLS codes with western leadership models.

Yogic Leadership Style

Yoga is a spiritual science for the integrated and holistic development of the physic, psyche, and soul (Morgan et al., 2014; Robin, 2009; Sovik, 1999). Recent advances in research have shown that it has a sound scientific basis in personality development. Hence, in this article, we have considered key yogic scriptures for understanding hidden leadership ideologies. Studies suggest that Yoga, Mindfulness attained with *āsana, prāṇāyama,* and *dhyāna* help improve resilience and stress management, self-awareness, empathy, and spiritual well-being (L & HF, 2016). Research proves that successful leaders bear certain core traits, unlike others, as a precondition to significant business success (Bass & Stogdill, 1990; Kirkpatrick & Locke, 2011). But how can management leaders judge their effectiveness in this ever-changing world? How can business leaders lead intelligently?

To explore these questions, we draw on leadership intelligence theory and propose a theoretical approach to effective yogic. This article explores the theory of Leadership that utilizes five levels of intelligence body kinesthetic Intelligence (BKI), cognitive Intelligence (CI), emotional Intelligence (EI), spiritual Intelligence (SI), and Wellness as context for effective leadership through the perspective of yogic principles. It is important to note that all personality dimensions are intricately interwoven. Each dimension has specific activities and processes that change at different rates. The absence of any dimension makes a person's personality incomplete and lopsided.

Body-Kinaesthetic Intelligence (BKI) as per the yogic context.

The first part of multiple intelligence is the ability to be aware of one's own body and to transfer this awareness along with one's body awareness into all of one's activities (Gardner, 1999) which is considered as Body Kinesthetic Intelligence (BKI). According to the definition provided by Harward Gardner, BKI is the control of body movements to handle physical activities. It involves the possibility of using one's whole body or parts of one's body to find solutions to problems. āsana, prānāyama, and bandha are all forms of yogic practice that benefit physical development and the body's overall functionality. It entails having control over one's bodily movements and the ability to manipulate objects physically. It focuses on the human body in its physical form. This intelligence is relevant to various fields, including medicine, athletics, the visual arts, the performing arts, dance, and music. The correlation of BKI ideas with shlokas and verses from yogic texts is presented in Table 2, which can be found here (Upanishads, SBG, PYS, HYP, GS).

Yogic Texts	BKI concepts as per Yogic texts
Upaniṣads (Radha-Krishnan,1953)	*manomayatvādiguṇakabrahmopāsanayāsvārajyasiddhiḥ sayaeṣo'ntahṛdayaākāṣaḥ. tasminnayaṃpuruṣomanomayaṭ. amṛtohiraṇmayaḥ. antareṇatāluke. yaeṣastanaivāvalambate. sendrayoniḥ. yatrāsaukeśāntovivartate. vyapohyaśirṣakapāle* (Taittariy Upanishad shiksha valli1.6.1) The intelligent, imperishable, luminous Purusha or Entity resides in this space within the heart. Between the palates, that which dangles like a nipple (the uvula) - that is the

	birthplace of Indra, where the hair root is made to part, thereby opening the centre of the skull.
SBG	*samaṃkāyaśirogrīvaṃdhārayannacalaṃsthiraḥ*
(Mookherjee,	*samprekṣyanāsikāgraṃsvaṃdiśaścānavalokayan(SBG 6.13)*
2002)	During meditation one should keep his body, head, and neck erect and still while staring at the very tip of his nose without turning his head or looking anywhere else.
PYS (Bryant,	*tatodvandvānabhighātaḥ* (PYP 2.48)
2009)	Because physical stillness is a prerequisite for mental stillness, practicing asanas is essential for achieving mental perfection.
HYP (Burley,	*Atha āsanam*।
2000)	*Haṭhasyaprathamāṇgatvādāsanaṁpīrvamucyate*।
	Kuryāttadāsanaṁsthairyamārogyaṁcāṇgalāghavam (HYP 1.17)
	As a result of regular practice of asana, a person develops an immunity to disease, a sense of lightness and flexibility in their limbs, and a sense of steadiness (firmness) in both their body and mind.
GS (Mallinson, 2004)	*Ṣatkarma* is used to cleanse the body, āsana is used to strengthen the body, *mudrā* is used to steady the body, *pratyāhāra* is used to calm the mind, *praṇāyama* is used to bring inner lightness, *dhyāna* is used to bring inner perception, and *samādhi* is used to achieve self-liberation and bliss(GS 1.10).

Table 2. Concepts from authentic yogic scriptures that match BKI's ontological paradigms.

Cognitive Intelligence (CI) as per the yogic context

Cognitive Intelligence, also known as CI, is "the capacity to think critically and analyze a situation or solve a concrete problem" (Kartika et al., 2020). Therefore, it is necessary to Awaken, stand up, obtain knowledge from superior and wise men, and know the divine element; scholars consider this path as difficult as walking on a razor's edge. According to the SBG, the restless and inconsistent mind should be soothed, cleansed of worldly desires, and refocused on the supreme (Dhiman, 2014). Yoga and the Intellectual Dimension of Personality are associated with

developing mental skills and processes such as critical thinking, memory, perception, decision-making, imagination, and creativity, among others. Development of this dimension is essential because it enables us to acquire new skills and knowledge (Muktibodhananda, 1999). Yogic practices such as *āsana, prāṇāyama, dhāraṇā, and dhyāna*aid in the development of concentration, memory, and intellect (Vivekananda, 2022). Table 3 depicts the relationship between CI concepts and shlokas/verses from yogic texts (Upanishads, SBG, PYS, HYP, GS)

Yogic Texts	**CI concepts as per yogic texts**
Upaniṣads	*svādhyāyapraśaṁsā*
(Radha-	*ṛtaṁ ca svādhyāyapravacaneca .*
Krishnan	*satyaṃ ca svādhyāyapravacane ca.*
1953)	*tapaścasvādhyayapravacane ca* (Taittiriya Upanishad 1-9)
	Along with reading and spreading biblical texts, one must do right. Truth means living righteously and studying and preaching regularly. Penance, study, sense control, tranquilly, offering oblations in fire sacrifice, preaching of the Vedas; serving guests all should be practiced sincerely.
SBG	*buddhiyuktojahātīhaubhesukṛtaduṣkṛte*
(Mookherjee, 2002)	*tasmādyogāyayujyasvayogaḥkarmasukauśalam* (SBG 2.50)
	This selfless karma yoga, which removes ignorance and attains good knowledge to work with *Brāhman* intellect.
PYS (Bryant, 2009)	*tataḥpratyakcetanādhigamo'pyantarāyābhāvaśca* (PYS 1.29)
	through meditation the experiential knowledge gained in the meditative state is wisdom filled with truth
HYP (Burley,	*Cale vātecalaṁcittaśniscaleniscalaṁbhavet*।
2000)	*Yogīsthāṇutvamāpnotitatovāyuṁnirodhayet(HYP 2.2)*
	When Prāna moves, Chitta moves; when *Prāna* is without movement, *Chitta* also attains steady nature.
GS (Mallinson 2004)	Knowledge of pratyahara eliminates the enemies of human beings such as selfish wishes, greed, desires, etc. So

wherever the restless mind wanders, please bring it back, putting it under control of the self, soul, and spirit (GS 5.1).

Table 2. Concepts from authentic yogic scriptures that align with CI's ontological paradigms.

Emotional Intelligence (EI) as per the yogic context

Emotional intelligence (EI) can be defined as the ability to recognise, evaluate, and control one's own emotions, as well as the emotions of others and those of groups. EI is dependent on the following four key capabilities: self-awareness, empathy, self-motivation, and self-regulation, as well as social skills. EI is measured by a person's ability to identify, evaluate, and control their own emotions, as well as the emotions of others and those of groups (Goleman, 1995). In particular, it improves both one's leadership abilities and one's capacity to effectively collaborate with other people. Yoga plays a vital role in the development of positive emotions. It fosters emotional stability and helps to control negative emotions (Muktibodhananda, 1999). Yogic practices such as *yama, niyama, āsana*, *prāṇāyama*, *pratyāhāra*, and *dhyāna help* in emotional management (Vivekananda, 2022). Table 4 illustrates the correlation of EI concepts with shlokas/ verses from the yogic texts (Upanishads, SBG, PYS, HYP, GS)

Yogic Texts	**EI concepts as per yogic texts**
Upaniṣads	*indriyāṇihayānāhurviṣayāṁ steṣugocarān .*
(Radha-Krishnan,	*ātmendriyamanoyuktaṁbhoktetyāhurmanīṣiṇaḥ* (Kathopanishad 1.2.4)
1953)	They say that our senses are like horses, and the things around us are like roads. The wise refer to the atman, which is integrated with the physical body, the senses, and the mind, as the enjoyer.
SBG	*dhyāyatoviṣayānpuṁsaḥsaṇgasteṣīpajāyate*
(Mookherjee,	*saṅgātsañjayatekāmaḥkāmātkrodho' bhijāyate*
2002)	*krodhādbhavatisammohaḥsammohātsmṛtivibhramaḥ*
	smṛtibhraṃśādbuddhināśobuddhināśātpraṇaśyati (SBG 2.63)

	When a man considers objects, attachment to them emerges; from attachment, desire is born; and from desire, anger is born. From anger results delusion; from delusion, memory loss; from memory loss, the destruction of discrimination; and from the destruction of discrimination, death of psyche.
PYS (Bryant, 2009)	*maitrīkaruṇāmuditopekṣāṇāṃsukhaduḥkhapu ṇyāpuṇyaviṣayāṇāṁ*
	bhāvanātaścittaprasādanam (PYS 1.33
	In relationships, the mind becomes purified by cultivating feelings of friendliness towards those who are happy, compassion for those suffering, goodwill towards virtuous people, and indifference or neutrality towards those we perceive as wicked or evil (PYS 1.33).
HYP (Burley, 2000)	*Mahākleśādayodoṣāḥkṣīyantemaraṇādayaḥ*।
	Mahāmudrāṁ ca tenaivavadantivibudhottamāḥ। *(HYP3.14)*
	By practicing Mahāmudrā, the great Kleśa-s or Afflictions (kleśa) --viz. ignorance, egoism, attachment, aversion and fear of death--, etc. along with the detrimental consequences of (doṣāḥ) --viz. all that derives from grief, delusion, etc., which are the effects of the Afflictions and their progeny--, (as well as) death (maraṇa), etc. are destroyed and for all those reasons the best among the wise men call this Seal Mahāmudrā --the Great Seal.
GS (Mallinson, 2004)	There is no foe-like delusion, and there is no force as powerful as Yoga. There is no more incredible friend than knowledge and no foe worse than ego(GS 1.4).

Table 3. Concepts from authentic yogic scriptures that match EI's ontological paradigms.

Spiritual Intelligence (SI) as per yogic context

Coined by (Zohar, 1999), spiritual intelligence (SI) is our fourth component which refers to a set of mental capacities contributing to the awareness, integration, and adaptive application of the non-material and transcendent aspects of one's existence, primarily displayed by spiritual

gurus, visionary leaders, and corporate sages saints and philosophers as specific propensities, qualities, and capacities of human perceptions, intuitions, and cognitions. Leaders are increasingly prioritizing SI and integrating spirituality into their work. Upanishads explain that when the five sense organs *(Ātma-tattva)* are fixed along with the mind and the intellect also becomes without effort, this state is called the supreme movement of the soul (Radhakrishnan, 1953). SBG explains the satisfying nature of the mind, calmness, the spirit of contemplating God, the control of the mind, and the excellent purity of the feelings of the conscience, which are called mental austerities (Prabhupada., 2019). Leadership includes personality, vision, and a shared purpose; here, *yama*, *niyama, pratyahāra*, and *dhyāna are* helpful for spiritual development (Saraswati, 2012). *Yama* and *niyama* help develop our moral values, while prānayāma and meditation help us realize our true selves. Introspection effectively creates 'self' (Vivekananda, 2022). Table 5 illustrates the correlation of SI concepts with shlokas/verses from the yogic texts (Upanishads, SBG, PYS, HYP, GS).

Yogic Texts	**SI concepts as per Yogic Texts**
Upanishads (RadhaKrishnan, 1953)	*najāyatemriyatevāvipaścin nāyaṃkutaścinnababhūvakaścit* . *ajo nityaḥśāśvato'yaṃpurāṇo nahanyatehanyamāneśarīre* (Kathopanishad 1.2.18) The knowing self is neither created nor destroyed; instead, it simply is. It did not originate from anything; likewise, nothing originated from It. It has never had a beginning, will never end, has been around since the beginning of time, and will never die.
SBG (Mookherjee, 2002)	*yatkaroṣiyadaśnāsiyajjuhoṣidadāsiyat yattapasyasikaunteyatatkuruṣvamadarpaṇam* (SBG 9.27) O Kaunteya, whatever you do, whatever you eat, whatever you sacrifice, whatever you give to charity, and whatever austerity you practice, do it as an offering to supreme

PYS (Bryant, 2009)	*nirvicāravaiśāradye'dhyātmaprasādaḥ (PYS1.47)* In reaching *nirvichara* samadhi, the Chitta will have become firmly established after the concentration "without discrimination" has been cleansed.
HYP (Burley, 2000)	*Praṇamyaśrīguruṃnāthaṁsvātmārāmeṇayoginā*। *Kevalaṁrājayogāyahaṭhavidyopadiśyate (HYP 1.2)* All the hath yoga processes are meant to attain raja yoga (samadhi). One who reaches Raja Yoga is victorious over time (death).
GS (Mallinson, 2004)	A yogi is liberated by separating the mind from the body and making it one with the supreme self. (GS 7.4) One can attain self-realization by practicing supreme meditation

Table 4. Concepts from authentic yogic scriptures that match SI's ontological paradigms.

Wellness Concepts as per yogic context

Wellness is the ideal state of health that enables individuals and groups to realize their fullest physical, psychological, social, economic, and spiritual potential while maintaining a balance between work and personal life. Dr. Bill Hettler, co-founder of the National Wellness Institute (NWI), conceptualized the Six Dimensions of Wellness (Insel et al., 2022). PGO cues have been illustrated and correlated with all six wellness codes (occupational, emotional, physical, social, spiritual, and intellectual). Yoga is an ancient science for health and wellness, self-mastery, and unlocking the infinite possibilities of our consciousness. Yoga technology promotes leadership wellness by facilitating the self-actualization of leaders and employees. Mind trumps senses, intellect trumps mind, soul trumps Intelligence, and latent energy trumps soul according to the Upanishads. We should concentrate on revitalizing this dormant energy. Yoga, according to SBG, can only be demonstrated by those who eat, exercise, sleep, and awaken properly (Prabhupada., 2019) HYP explains that only the seeker can effectively control the *Prāna* when all the *Nādis*, which carry impurities, become pure (Muktibodhananda, 1999). Table 6 depicts

the relationship between wellness concepts and shlokas/verses from yogic texts (Upanishads, SBG, PYS, HYP, GS)

Yogic Texts	**Wellness concepts as per Yogic Texts**
Upaniṣads	
(Radhakrishnan,	*hṛdihyeṣaātmā. atraitadekaśataṃnāḍīnāṃ tāsāṃśataṃ*
1953)	*śatamekaikasyādvāsaptatirdvāsaptatiḥ pratiśākhānāḍīsahasrāṇi*
	bhavantyāsuvyānaścarati (Prashna Upanishad 3.6)
	There are one hundred and one arteries (nadi) in the heart, where the atman resides; for each of these, there are one hundred branches, and for each of these branches, again, there are seventy two thousand subsidiary vessels. Vyāna moves in these.
SBG	*yuktāhāravihārasyayuktaceṣṭasyakarmasu*
(Mookherjee, 2002)	*yuktasvapnāvabodhasyayogobhavatiduḥkhahā* (SBG 6.17)
	yoga becomes the destroyer of pain for those who are moderate in their eating, recreation, exertion, sleep, and waking hours.
PYS (Bryant, 2009)	*vyādhistyānasaṃśayapramādālasyāvirati-*
	bhrāntidarśanālabdhabhūmikatvānavast hitatvāni
	cittavikṣepāste'ntarāyāḥ (PYS 1.30)
	Disease, Mental and physical lethargy, Doubt, Lack of enthusiasm, Craving for a sense of pleasure, False perception, and Despair are caused by failure to concentrate and unsteadiness in concentration which could be overcome through yoga.
HYP (Burley, 2000)	*Śuddhimetiyadāsarvaṁnāḍīcakraṁmalākulam*|
	Tadaivajāyateyogīprāṇasaṇgrahaṇekṣamaḥ (HYP 2.5)
	Only when the entire group of impurity-filled subtle channels is purified does the Yog become fit for gathering and retaining vital energy.

GS (Mallinson, 2004)	*Ṣatkarmas* are the yogic practices to foster Wellness. It helps purify frontal lobes, which promotes good concentration and creativity and prevents many disorders related to our sense organs like the nose, ear, eye, and skin (GS 1.10).

Table 6. Concepts from authentic yogic scriptures that match wellness 's ontological paradigms.

Discussion

Current theories of Leadership that utilize vision/ or values include Transformational Leadership (Bass, 1995; Kanungo & Mendonca, 1996), Authentic Leadership (Avolio & Gardner, 2005), Ethical Leadership (Brown &Treviõo, 2006), Servant Leadership (Brown &Treviõo, 2006) and Spiritual Leadership (Fry, 2003; Kriger& Seng, 2005). However, these attempts have not yet gone to the root of the Integral Leadership critical for organizational effectiveness. YLS is an emerging paradigm for understanding, practicing, communicating, and teaching the principles of holistic leader. Traditional managers and management professors may find it difficult, even counterproductive, to combine the images of 'Yoga' and 'business.' But research demonstrates that Yoga and Leadership can have a synergetic relationship. Leaders of the 21st century face much more different and complicated demands than in the past. The new perspective presented here is not simply a 'good idea.' Nor do we claim to have 'discovered' it; others may have written about 'Yoga-based leadership' before we did. Our research only attempted to describe and develop a structure for what we saw existing in our ancient authentic scriptures.

The study's overall purpose has been to contribute to the emerging field of, and consciousness about, Yogic Leadership Style in work organizations worldwide. Contemporary yoga masters Swami Ramdev and Acharya Balkrishna established many diverse organizations to address public issues regarding health, education, ascetic lifestyle, entrepreneurship, social transformation, and national upliftment, leading them very well in every aspect. This overall personality, vision, mastery of thoughts, actions, gestures, postures, and fundamental communication skills galvanized millions of people within and around India. As documented in numerous online/offline expositions and interviews, the vision and missions of Patanjali, led by Swami Ramdev and Acharya Balkrishna, have stressed

Yogic Living and Leading as the key to envisioning and managing their Business Empires, which is different from the existing established western leadership styles. We draw upon the ontological paradigm from Upanishads, SBG, PYS, HYP, and GS texts to confirm added validity for such a yogic leadership theory. Although not independent, these primary yogic scriptures can be treated as sources of Yogic leadership attributes. These yogic scriptures have significant implications and hold insights for developing yogic leadership theory as a context for effective Leadership.

References

- Avolio, B. J., & Gardner, W. L. (2005). Authentic Leadership Development: Getting to the Root of Positive Forms of Leadership. *The Leadership Quarterly*, 16, 315-338. https://doi.org/http://dx.doi.org/10.1016/j.leaqua.2005.03.001
- Bass, B. M. (1995). Theory of Transformational Leadership Redux. *The Leadership Quarterly*, 6, 463-478. https://doi.org/https://doi.org/10.1016/1048-9843(95)90021-7
- Bass, B. M., & Stogdill, R. (1990). Bass & Stogdill's Handbook of Leadership: Theory, research and applications. In *Simon and Schuster*. Simon and Schuster.
- Bhatti, N., Maitlo, G. M., Shaikh, N., Hashmi, M. A., & Shaikh, Faiz. M. (2012). The Impact of Autocratic and Democratic Leadership Style on Job Satisfaction. *International Business Research*, 5(2), 192-201. https://doi.org/10.5539/ibr.v5n2p192
- Brown, M. E., &Treviõo, L. K. (2006). Ethical Leadership: A Review and Future Directions. *The Leadership Quarterly*, *17*. https://doi.org/https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2006.10.004
- Bryant, E. (2009). *The Yoga Sūtras of Patañjali: A New Edition, Translation and Commentary*. North Point Press.
- Burley, M. (2000). *Haṭha-Yoga: Its Context, Theory, and Practice.* Motilal Banarsidass.
- Clawson, J., & Bevan, G. (2008). Leadership and Intelligence. *SSRN Electronic Journal.* https://doi.org/10.2139/ssrn.1281266
- Dhiman, S. (2014). The Ethical and Spiritual Philosophy of the Bhagavad Gītā. In *Leading Spirituality* (p. pp 19-44).

- Freeman, R. E., Wicks, A. C., & Parmar, B. (2004). Stakeholder theory and "The corporate objective revisited." *Organization Science,* 15(3). https://doi.org/10.1287/orsc.1040.0066
- Fry, L.W. (2003). Toward a Theory of Spiritual Leadership. *The Leadership Quarterly*, 14, 693-727. https://doi.org/https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2003.09.001
- Gardner, H. (1999). Intelligence Reframed: Multiple Intelligences for the 21st Century. In *Basic Books* (Vol. 35, Issue 1). https://doi.org/10.2307/3587873
- Goleman, D. (1995). *Emotional intelligence: why it can matter more than IQ*. Bantam Books.
- Gulati, R., Nohria, N., & Wohlgezogen, F. (2010). Roaring out of recession. *Harvard Business Review*, 62-69.
- Ingram, J., & Cangemi, J. (2012). Emotions, Emotional Intelligence and Leadership: A Brief, Pragmatic Perspective. *Education*, 132, 771-778.
- Insel, C., Roth, W. T., & Insel, P. M. (2022). *Connect core concepts in health* (17th ed.). Tata McGraw Hill.
- Kanungo, R.N., & Mendonca, M. (1996). Ethical dimensions of leadership. In *Ethical Dimensions of Leadership*. Sage Publications, Inc.
- Kartika, R., Sutiadiningsih, A., Zaini, H., Meisarah, F., & Hubur, A. (2020). Factors Affecting Cognitive Intelligence Theory. *Journal of Critical Reviews*, 7, 402-410. https://doi.org/10.31838/jcr.07.17.56
- Kirkpatrick, S.A., & Locke, E. A. (2011). Leadership: do traits matter? *Executive*. https://doi.org/10.5465/ame.1991.4274679
- Kriger, M., & Seng, Y. (2005). Leadership with inner meaning: A contingency theory of leadership based on the worldviews of five religions. *Leadership Quarterly*, 16(5), 771-806. https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2005.07.007
- Kumar, S., Adhish, V.S., & Chauhan, A. (2014). Managing self for leadership. *Indian Journal of Community Medicine*: *Official Publication of Indian Association of Preventive & Social Medicine*, 39(3), 138-142. https://doi.org/10.4103/0970-0218.137148

- L, G., & HF, U. (2016). The relationship between yoga involvement, mindfulness and psychological well-being. *Complementary Therapies in Medicine*, 26, 123-127. https://doi.org/10.1016/J.CTIM.2016.03.011
- Mallinson, J. (2004). Gheranda Samhita: the Original Sanskrit and English Translation. In *Yoga Vidya*.
- Mookherjee, B. (2002). *The Essence of Bhagavad Gita*.
- Morgan, N., Irwin, M. R., Chung, M., & Wang, C. (2014). The Effects of Mind-Body Therapies on the Immune System: Meta-*Analysis. PLoS ONE*, 9(7), e100903. https://doi.org/10.1371/journal.pone.0100903
- Muktibodhananda, S. (1999). *Hatha Yoga Pradipika.* Bihar School of Yoga.
- Padilla, A., Hogan, R., & Kaiser, R.B. (2007). The toxic triangle: Destructive leaders, susceptible followers, and conducive environments. *Leadership Quarterly*, 18(3), 176-194. https://doi.org/10.1016/j.leaqua.2007.03.001
- Piggot-Irvine, E., & Tosey, P. (2014). Introduction to Leadership. In *Practical Leadership in Nursing and Health Care.* https://doi.org/10.1201/b16629-2
- Prabhupada., D. G. A. C. B. S. (2019). *Bhagavad Gita as It is*. Bhaktivedanta Book Trust.
- Pruzan, P., &Zsolnai, L. (2019). An interview with Peter Pruzan on spiritual transformation in management. *Journal of Management, Spirituality and Religion*, 16(2), 221-230. https://doi.org/10.1080/14766086.2018.1548972
- Radhakrishnan, S. (1953). *The Principal Upanishads.*
- Robin, M. (2009). *A Handbook for Yogasana Teachers: The Incorporation of Neuroscience, Physiology, and Anatomy Into the Practice.* 1132.
- Saraswati, N. S. (2012). *Gheranda Samhita.*
- Shah, R., Shah, P.P., Shah, B.B., & Makwana, V. (2015). Enhancement in the Emotional Intelligence level of students through practicing Raj yoga meditation. *IOSR Journal Of Humanities And Social Science* (IOSR-JHSS, 20(5), 44-53. https://doi.org/10.9790/0837-20524453

- Sovik, R. (1999). Chapter 34 The science of breathing - the yogic view. *Progress in Brain Research*, 122(C), 491-505. https://doi.org/10.1016/S0079-6123(08)62159-7
- van Dierendonck, D. (2011). Servant Leadership: A Review and Synthesis. *Journal of Management*, 37(4), 1228-1261. https://doi.org/10.1177/0149206310380462
- Vivekananda, S. (2022). *Patanjali's Yoga Sutras*. Empty canvas publishers.
- Zohar, D. (1999). *SQ: Spiritual Intelligence*, the Ultimate Intelligence. Bloomsbury Publishing PLC.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (125-132) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Tales, Parables and Rāmakṛṣṇopainṣad

Sh. Bholanath Sanhotra*

Abstract

The Article is about the tales and parables found in the upanisads which are allegorical stories aimed at teaching philosophical perceptions and compared with the tales and parables found in the book of *Śrī Rāmakriṣṇa Paramhansa.* This helps aspirants to have faith in the *upanisad-s* and scriptures and enhance spiritualitya and inculcate values of life into aspiring seekers. Tales and parables occupy the most important place in the teachings of the saints and seers even today. The sages have adopted the method of presentation as an effective way of instruction in comparison to the ancient sages *Śrī Rāmakriṣṇa Paramhansa* was also a realized soul of ninteenth centure. Although there are differences in terms of age and changes in environment and treatment of the subject but still, it appears that there is continuty of Indian thought from Ancient times till today through the Indian Saints. *Śrī Rāmakrishna Paramṣṇsa* had no formal education even then he was a spiritual teacher par excellence.

Keywords: upaniṣad-s, brhaman, Sri Rāmakṛṣṇa.

Upaniṣad-s consists of tales with dialogues that express spiritual truths revealed to the Sages through their mystic experiences. The tales are not meant to entertain but aim at conveying glimpses of the Ultimate Reality namely the *Brahman*. *Upaniṣadic* Seers have propounded this path of knowledge as *'jñanakaṇda'*. As these experiences were mystic; the expression in language was difficult and so we find sometimes contradictory statements like 'it moves and moves not', 'It is inside and also outside of everything'[1]. To express these spiritual experiences, the Sages employed tales and produced dialogues among them. Tales found in *Upaniṣad-s*, are stories those are allegorical and aim at teaching

* Ph.D. student, (Sanskrit Department, Mumbai University), Kalina Campus, Santacruz (East), Mumbai-400051

1. *ĪśavāsyaUpaniṣad* (1.1.5)
तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्तिके। तद॒न्तर॑स्य सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः।

perceptions those relate to rational investigation of the truths and principles, of being, knowledge, or conduct. These tales may be short but they are undoubtedly very appealing and the dialogues very revealing. As the prime job of the teacher; the preceptor removes nescience by removing misconceptions. This helps aspirants to have faith in the Scriptures and enhance spirituality in them and inculcate values of life into aspiring seekers. The *Upaniṣad-s* and the Scriptures are for those who renounced the world to attain ultimate salvation by meditation. They only reveal the Ultimate Reality, knowledge of which emancipates a man; only delineate the Ultimate Reality which reveals the highest knowledge in the minds of the deserving.

Tales and Parables, therefore, occupy a most important place in the teachings of the saints and seers even today and have adopted the method of presentation as an effective way of instruction. A 'tale' is a story where in human beings are its characters wheres a 'parable' is a story where in animals such as swan, bull etc are its characters.

Mystics who lived in ancient India gave to humanity reflections on the nature of reality and showed the path to God-realization through the tales and parables in the *Upaniṣad-s*. It is interesting to investigate how the great minds think alike irrespective of time and place. In comparison to the sages like *Yajñavalkya, Gargī, Maitreyī, Bhrigu*, *Aṇgirā,* there is the Saint by the name *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* who was also a realized soul and he lived in nineteenth century. He lived close to our century showed the humanity the path to peace and tranquility through virtuous life and attains spiritual height, through his teachings. Although He has been a mystic of our times; there are differences in terms of age and changes in environment and treatment of the subject but still, it appears that there is continuity of Indian thought from ancient times till today. *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* had no formal education; even then he was a spiritual teacher par excellence. Many of his tales and parables are drawn from ordinary domestic and social life, customary with the people around him and bear witness to his consummate wit and keenness of observation. Besides, the lucid language, *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* makes it easier to understand for the common man. There are striking similarities between the teachings of *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* and those of the *Upaniṣadic* Sages and similar enlightenment was endowed upon the followers by *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* in modern times.

How the great minds think alike irrespective of time and place will

be reflected through the tales and parables as follows:

The Ultimate Reality *(Brahman)* is eternal, everlasting non-contradicted knowledge or consciousness [1]. It exists before the world was born and it is the truth. It is all pervading and omnipresent[2]. Its nature is indescribable. It is beyond the reach of the mind and speech[3]. It is a wonderful speaker and so is the listener [4]. Sage *Bhrugu* asked his father; Sage *Varuṇa;* about the *Brahman*. *Varuṇa* told to him that, "seek to know that from which all these beings take birth, that by which they live after being born, that towards which they proceed and into which they merge: that is Brahman"[5], that means the whole universe which is born along with the beings from him namely *Brahman;* and after being born they flourish enjoying their lives and finally merge into *Brahman* after their death. *Brahman* is the eternal truth. The Ultimate Reality; *Brahman* has no attributes of its own but is the cause of the origin, existence, and dissolution of the universe.

In the *Chāndogya Upaniṣad*, 4.4 - 4.8 one day a young boy came to the ashrama of Sage Haridrumata Gautama and said, "Revered Sir, I desire to live under you as a *Brahmacārin.* Please accept me as your student." The sage asked, "Dear boy, of what gotra or lineage are you?" The boy replied, "Sir, I am not sure of what lineage I am. However, my mother's name is Jabala and I reveal myself to you as Satyakama Jabala." On hearing it, the Rishi Haridrumata Gautama smiled and asked him to bring the sacrificial fuel and initiated him as a *Brahmacārin.*" Thus was Satyakama Jabala initiated into the life of a *Brahmacharin.* Satyakama lived in the forest and looked after the cows. The number of cows increased to a thousand. One day towards evening a bull came to Satyakāma and spoke to him, "Dear boy! Now we are a thousand in number. Take us to the house of the teacher". Also, the bull said to Satyakama, "I shall teach you one quarter of the *Brahman* or God. He is *Prakaśavān* or the Radiant.

---

1. *Taittirīya Upaniṣad* (II.1.1) सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म।
2. *Chāndogya Upaniṣad* (III.14.1) सर्वं खलु इदं ब्रह्म।
3. *Taitirīya Upaniṣad* (2/8) यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह।
4. *Kaṭha Upaniṣad:* (I.2.7)
   आश्चर्योवक्ताकुशलोऽस्यलब्धाऽऽश्चर्योज्ञाताकुशलानुशिष्टः।
5. *Taittirīya Upaniṣad* (III.1.1)
   यतोवाइमानिभूतानिजायन्ते। येनजातानिजीवन्ति।
   यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

He who meditates on *Brahman* as the Radiant, becomes radiant in this world." Thus, having spoken the bull told Satyakama that Agni, the God of fire, will teach him later. At dawn, Satyakama drove the cows towards his Guru's ashrama. In the evening when the cows came together, he kindled a fire there, added fuel to the fire, penned the cows and sat down near them behind the fire, facing east. Then the Fire addressed him and said: "Dear boy, I will teach you one quarter of the *Brahman.* He is *Anantavan* or the Endless. One who knows Him to be thus and meditates upon him as Endless, becomes endless in this world". Then the fire told him that a swan was going to tell him about the third quarter of the *Brahman.* At dawn, Satyakama continued to drive the cows towards the Guru's ashrama. Towards evening when the cows came together, he kindled a fire there, added fuel to the fire, penned the cows and sat down near them behind the fire, facing east. All of a sudden a swan came flying and said, "Satyakāma! I shall teach you the third quarter of *Brahman*. He is called *Jyotiṣmān* or the Effulgent. One, upon him as the Effulgent, becomes effulgent in this world." When Satyakama reached the Guru's ashram with the thousand cows, the Guru asked him, "Dear boy, your face shines with the knowledge of *Brahman*. Who taught you that?" Satyakama told him about his teachers and said, "Sir, I now request you to expound it to me personally. Because I know that the knowledge received directly from one's own Guru becomes perfect." Then Rishi Haridrumat Gautama, the revered teacher of Satyakama, taught him the same thing again by adding more meaning to all that Satyakama had learnt. Thus, Satyakama got the full knowledge of *Brahman* from his Guru and later, he himself became a great teacher.

Comparatively, in one of the tales; *Śri Rāmakṛṣṇa* tells about the three thieves who wanted to know what was inside the enclosed walls. One climbed on the shoulders of the other two, peeped in. He was so fascinated by the scene that he uttered the word, 'Oho!' and jumped in. The other two also did the same and their expression was the word, 'Oho!' and jumped in. That expression shows that such is the nature of the Ultimate Reality. One who experiences Him utters the words of wonder and merges into Him. The individual self is of the nature of pure consciousness.

Just as the Sun and its reflection in water appears to be the same yet both are so different. So also, the Ultimate Reality *(Brahman)* and the individual self *(Jīva / Ātman)* in every being are the same because the beings are born from the Ultimate Reality *(Brahman)*. There is *Ātman*

not in man alone but in all objects of the universe, the sun, the moon, the world. There is nothing outside the *Ātman*, and therefore there is no plurality at all. All these are the reflection of the Ultimate Reality *(Brahman)*. Citing example of a lump of clay from which all utensils are made of clay alone. Similarly, as from an iron all that is made of iron is known, so when this *Ātman*, the *Brahman* is known everything else is known.

There are statements in *Chāndogya Upaniṣad:* like 'You are That'[1] which means the *Jīva/Ātman* is within you and that is the Self, that is Truth and when you realize you merge into *Brahman* and 'You are That', you and *Brahman* are one. Similarly, in *Brhadāraṇyaka Upaniṣad* it is mentioned, 'I am *Brahman*'[2], which means 'That the subtle essence in you is present in you and you need to locate it in there. When it will be realized by you then you will realize *Brahman* in you. You and *Brahman* will become one and then you can say 'I am *Brahman*'.

Further, elaborating on the individual self *Kaṭha Upaniṣad* (1.3.4 to 1.3.9) text says that the (individual) self is the master of the chariot (the body). The intellect is compared with the charioteer and the mind is verily the bridle. The organs having been imagined as horses, (know) the objects as the roads. When the intellect is associated with an uncontrolled mind, the organs becomes devoid of discrimination and are unruly like the vicious horses. When the intellect endowed with discrimination is associated with a restrained mind then the organs are controllable like the good horses of the charioteer. Therefore, the intellect (master of chariot) who, being associated with a uncontrollable mind cannot attain the goal through that intellect which is impure and it remains in worldly existence. That (master of the chariot), however, who is associated with a discriminating intellect, and being endowed with a controlled mind, is ever pure, attains that goal of realisation of merging into *Brahman*, the Ultimate Reality; from which he is not born again. The man, however, who has as his charioteer a discriminating intellect, and who has under control the reins of the mind, attains the end of the road; and that is the highest place of *Viṣnu*. Further, the sense-objects are higher than the senses, the mind is higher than the sense-objects; the intellect is higher than the mind and the Great Soul is higher than the intellect.

---

1. *Chāndogya Upaniṣad*(VI.8.7): तत्त्वमसि।
2. *Brhadāraṇyaka Upaniṣad*(XIV.10): अहं ब्रह्मास्मि।

Chāndogya Upaniṣad (Cha.III.I4.4) says: *Brahman* creates all, wills all, smells all, tastes all, he has pervaded all, silent and unaffected ". Universal Self; *Brahman* is the sole creator, omniscient and omnipotent. It is the cause of the origin, existence, and dissolution of the universe. The souls have emanated from it uniting with the body of human being, the universe and the mundane world and all the objects in it, is also his creation. It is *Nirguna nirākāra Brahman* that is it does not have any attributes of its own in his eternal-form *(Swarūpalakṣaṇ)* at the level of supreme truth *(Pāramārthika sattā)*.

This is further clarified in a tale in the *Kenopaniṣad* wherein Umā-haimavati which tells that once Fire (Agni), Air (Vāyu) and the God of Gods (Indra) were having conversation with Yakśa (who is the *Brahman* in disguise). Yakśa placed a straw for him saying, 'Take it up.' Air approached the straw with all the strength born of enthusiasm. He could not take it up. He returned from that Yaksa (to tell the gods), 'I could not ascertain It fully as to what this Yaksa is.' Similarly, Fire and Indra in ego claimed to be the strongest. Fire (Agni), Air (Vāyu) and the God of Gods (Indra) could not harm the erected straw. They all were embarrassed and they went to Goddess Umā, the daughter of Himavat for help. Goddess Umā from the sky informed them that Yakśa is the *Brahman* in disguise and the success obtained by him in the battles or otherwise is because of *Brahman* and not theirs. So, they must never feel egoist of such success. All the power of gods, glory etc. is due to *Brahman*, the Ultimate Reality. He is the sole creator, the cause of the origin, existence, and dissolution of the universe.

While travelling since ages; the esteem knowledge has been bestowed on the present generation in the form of a tales and parables. *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* said in a tale about the sap of a tree that it pervades the tree from the root to the topmost branch. It appears transformed into leaf and branch, into flower and fruit. It is the same way that the supreme Principle pervading all creation, our great men called by various names, such as Energy or *Māyā*. All living beings those are born grow and decay are the manifestations of that great Power. It also causes them much anguish.

Liberation is freedom, freedom from the cycle of birth and death[1]. There is other view that freedom from the bondage[2] that is while living in

1. *Videhamukti*
2. *Jeevanmukti*

the world one is free from the worldly things; just as water does not affect the lotus-leaf. *Kaṭha Upaniṣad* says when there is realization knots of the heart get resolved. All doubts disappear[1]. That is the highest abode[2]. *Kaṭha Upaniṣad* (I.I.14 to I.III.2) *Yama* while granting *Naciketā*, the son of Gautama, three boons of his choice; said, "*Brahman* is deathless, unborn, eternal, the soul is not slain, though the body is slain; subtler than what is subtle, greater than what is great, sitting it goes far, laying it goes everywhere. So long as the Self identifies itself with its desires, he wills and acts according to them and reaps the fruits in the present and in future lives. But when he comes to know the highest truth about himself, that he is the highest essence and principle of the universe, the immortal and the infinite, he ceases his desires and receding from all desires realizes the Ultimate Truth in his own infinitude. It is known from this tale that Nāciketas Fire is the bridge for the sacrificers, as also that the undecaying supreme *Brahman* beyond fear for those who want to reach the state of realisation.

In a tale once king *Jānaśruti* was sitting in his garden and he heard two birds' conversation while they were flying. King had power to understand their conversation. One bird asked the other that whom you would respect, king *Jānaśruti* or Sage *Raikva*? The other said 'Sage *Raikva*; who is knower of *Brahman*. Overhearing this king immediately sent his men in search of the Sage *Raikva,* instructing them of his desire to meet him. His men found the Sage and reported to the King that the Sage did not respond to his invitation at all. The King sent them again to him with all kinds of gifts. His men offered the Sage the gifts but the sage said on seeing the gifts 'Kshudra' to them. When the men reported to the king; instead of getting angry the king was very happy and realized that Sage *Raikva* was a realized soul who is not in need of these worldly objects or the people, he has no desires; he is modest and of pure mind. In order to attain that state, a man requires virtues as that of the Sage *Raikva*. Such is the nature of creation of *Brahman* as in the form of birds who knew the realized soul; Sage *Raikva* and only the King could understood this through the birds. This is a kind of aspiration to the readers.

A similar tale of *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* is that 'The prolonged dream that we call life'. A farmer lived with his family in a village who

---

1. *Kaṭha Upaniṣad* : भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते यास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।
2. *Kaṭha Upaniṣad* (I.3.11): सा काष्ठा सा परा गतिः।

had only son. Once he fell ill. Even the villagers could not save him. The wife cried a lot but the farmer did not shed any tear for his dead son. The wife blamed it for his husband but the farmer was a *Jñāni*. He explained that he had a dream that he became a king and had eight sons and shortly after he woke up and his entire dream was washed away leaving behind sorrow. He realized that the waking state is as unreal as the dream state. Similarly, his only son who died is like a dream which made him happy when he was alive and unhappy when he died. There is only one eternal substance, *Ātman* and he has realized It and that is *Brahman*.

On observing the tales, teachings of Sages, *Upaniṣad*-s, Saints, or parables of *Upaniṣad*-s or of *Śri Rāmakṛṣṇa Paramhansa* irrespective or the gap of ages; it is clear that the Self or Jiva situated in an individual is to be realized and after realisation, It merges into the *Brahman* which is eternal, omnipresent, omniscient and the Truth. Besides endurance, positive virtues of a noble disposition and a tranquil mind are also necessary for spiritual growth. These qualities of an aspirant are the key to the path of self realization. The innumerable desires *(purushartha)* of purusha are divided into *dharama, artha, kāma* and *mokṣa* and out of this *mokṣa* is immortal. Thus, *mokṣa* is *parampurṣārth*[1].

✦✦✦

1. *Māṇḍūkya Upaniṣad* - Author *Mahamandlshwr Swami Vishnudvanand Giriji Maharaj Publisher Dr.Umeshanand Shastri Hrishikesh*-Pg. 'ga'

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (133-146) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Anxiety and Quality of life of Irritable Bowel Syndrome Patients : An Āyurvedic and Psychological Āpproach

Shyam lata Juyal*

Megha Taragi**

Abstract

There are many diseases which aggravate due to the mind body interaction. Human mind is constantly battling for growth, progress and innovation, which in turn increasing the level of stress and anxiety which is causing the disease of Irritable Bowel Syndrome. IBS-C patients mostly prefer allopath medicines, they do provide symptoms relief but they can also lead to side effects. An alternative treatment for IBS can be Ayurveda, it is an ancient Indian medicine system. It is based on Tridosha i.e. *Vāta, pitta, and kapha also* play a vital role in developing IBS in the patients. The purpose of this study was to know the anxiety and assess quality of life of Irritable Bowel Syndrome patients and awareness of ayurvedic treatment to the patients. 50, IBSC patients and 50 Non-IBS participants were selected for this study and group of 50 bifurcated into gender of the participant (25 male & 25 female).

Results clarified that IBS-C patients have high anxiety in comparison to Non-IBS participants. Quality of life was shown poor by them in comparison to Non-IBS participants. Male and female of IBS-C also showed high anxiety and poor quality of life than the male and female of Non-IBS group. High negative correlation was found between anxiety and quality of life of IBS-C patients.

Keywords- Irritable Bowel Syndrome, Gender, Anxiety and quality of life.

---

* Professor, Dept. of psychology, K.G.C., Gurukul Kangri (Deemed to be) University, Haridwar

** Research Scholar, Department of psychology, K.G.C., Gurukul Kangri (Deemed to be) University, Haridwar

Introduction

The new millennium has brought significant changes in human life, technological inventions have made human lifestyle more convenient and comfortable, but it has also increased unhealthy way of living which includes inappropriate food habits, lack of physical activities, addiction for internet and cell phones etc. Human mind is constantly battling for growth, progress and innovation, which in turn increasing the level of stress. Stress can be defined as 'any challenge to homoeostasis', or to the body's internal state of balance (Bansal & Bhave, 2006). According to Ayurveda, an individual's basic constitution called *'prakṛt'* gives vital insight into the prognosis of any disease, the appropriate therapy, and also the lifestyle, is best suited for balancing the human body. *Prakṛti* of an individual has been classified into *ekala* (*vātala, pittala, kaphala*), *dvidoṣaja* (mixed characters of two *doṣas*) and *samadhātu-prakṛti* (all three *doṣas* in equilibrium). Among the above, the first three are considered as extremes, exhibiting readily recognizable phenotypes, and are more predisposed to specific diseases. Precise determination of *prakṛti* of an individual is crucial to any Ayurvedic intervention. On the other hand, in psychological perspective, characteristics of a person facing stress such as; being over-aroused, easily startled or fidgety touchy, easily get upset or irritate, excess tense, aggression or unable to relax and demonstrating intolerance of any interruption are the factors due to that a healthy person become a patient of irritable bowel syndrome. Besides it when a disturbance occurs in mind body connection several physical diseases also aggravate like - hypertension, respiratory ailments, gastrointestinal disturbances, diabetes etc. which emphasis on how one's mind influence one's physical well-being and how one's physical well-being can be influence by behavior (Solomon, 1987)

Irritable Bowel Syndrome (IBS) which is also referred as spastic colon, mucous colitis, spastic colitis, nervous stomach or irritable colon, is apparently the most common disorder seen by both gastroenterologists and physicians in primary care (Everhart & Renault, 1991). IBS it classified as a functional disorder where the fundamental abnormality is an unknown structural or biochemical cause like an inflammatory, infectious or structural abnormality but kind of an altered physiological function (Bradesi, McRoberts, Anton, & Mayer 2003; Van Vorous, 2000). Symptoms of IBS can range from a little irritation to extreme cases where a person's social life can be significantly affected and it can also disturb a person's

career due to many days off work. The common symptoms are diarrhea, constipation or alternating diarrhea and constipation.

References of gut or intestine dysfunction date back as far as ancient Greece or early European Literature (Thompson, 2006). While describing painful afflictions of the intestinal canal, Powell 1818, drew attention to three key symptoms of IBS "abdominal pain, derangement of digestion and flatulence". Twelve years later, Howship (1830) described the "spasmodic structure of the colon" reflecting the (now discredited) beliefs at that time that gut spasms contribute to functional gut disorders.

Irritable bowel syndrome (IBS) is characterized by chronic abdominal pain, discomfort, bloating, and alteration of bowel habits. It is a functional gastrointestinal disorder with no known organic cause. Apart from the above symptoms, the patient may suffer from dyspepsia, increased flatulence and belching, heartburn, nausea and vomiting. Diagnosis of IBS is by "exclusion" and there is no concrete treatment as such. The diagnosis of IBS can be made using the ROME criteria (2014). The prevalence of IBS is increasing in countries in the Asia-Pacific region, particularly in developing countries. In India, the prevalence of IBS is between 4.2% and 7.9% with male dominance and it is also more common in the young population (Upadhyay, R. & Singh A. 2014) IBS adversely influences psychological behavior and quality-of-life (QOL) of the patient. Depending on the predominant symptom, presentation IBS can be classified into subtypes such as IBS-D (IBS with diarrhea), IBS-C (IBS with constipation), and IBS-M (mixed symptoms).

In Āyurveda, IBS is known as Grahani, it means retaining the ability of the small intestine or duodenum. If the function of these organs is altered or the bowel loses its control and its absorption is weakened, the condition is called grahani.

Ayurveda also believe that psychological factors like increased level of stress can play a significant role in the development of the disease, so the emphasis is also given to lifestyle management and herbs to calm the mind and nervous system for long term relief of symptoms.

IBS symptoms are generally accepted as being caused by abnormalities of the gut function - the major ones being abnormal gastrointestinal motility and increased sensitivity of the intestine (Camilleri, Coulie & Tack, 2001; Jarret, Heitkemper, Cain, Burr, Robert, et al. 2000). One of the reasons for this occurring is an involvement with the immune

system. Research has now directed attention on the putative part of low-grade mucosal inflammation in IBS (Collins, Piche & Rampal, 2001). This inflammatory response is largely restricted to the colonic and ileal mucosa with evidence showing that patients of IBS have an increased number of inflammatory cells in this area- which lead to disturbances in gut motility, myoelectricity and smooth muscle contractility and changes in the function of enteric nerves (Barbara, De Giorgio, Stanghellini, Cremon & Corinaldesi, 2002).

Researches in field of IBS have started to view it as a disorder with many aspects- one in which there appears to be a disruption in the interaction between the intestines, the brain, and the autonomic nervous system (Smith & Morton 2001; Tortora & Grabowski, 2000). Factors that provoke this brain-gut situation can lead to symptoms of diarrhea in some IBS patients, constipation in some, and alternating diarrhea and constipation in the remaining. Increasing proof appears to suggest that the pathology of IBS is not only finite to the gut, brain, or autonomic nervous system but all three systems may be involved (Costa, Brookes, & Hennig 2000). There are various studies which shows that emotions like anger, fear, pain and anxiety can affect colonic motility more in IBS patients than in healthy controls and, for IBS, the most persistent co morbid psychiatric disorders include anxiety, depression and somatoform disorders.

Anxiety is an important factor in triggering the symptoms of IBS or it can be said that patients with IBS have higher anxiety than Non-IBS, anxiety is a feeling of uneasiness and worry, usually generalized and unfocused as an overreaction to a situation that is only subjectively seen as menacing (Bouras & Holt,.2007). *Anxiety can contribute negatively in IBS patient's quality of life*. Although IBS is not a life threatening condition, it is chronic and impact several domains of a patient's life. In IBS patients, quality of Life (QoL) is mostly found low. The World Health Organization (WHO) defined QoL as being the individual's perception of their position in life in the context of the culture and value systems in which they live and in relation to their goals, expectations and concerns? (WHO, 2008).

Individuals with IBS who have higher anxiety are bound to have reduction in their quality of life. It is the general well-being of an individual and societies, outlining negative and positive features of life. It observes life satisfaction, including everything from physical health, family, education, employment, wealth, safety, and security to freedom, religious beliefs, and the environment. Patients with IBS often miss work and social

gatherings due to their symptoms severity which affects their social life and overall quality of life.

The main purpose of this research is to understand the problems particularly of IBS-C patients which create anxiety as far as quality of life of patients who are suffering from the disease. Keeping in mind following objectives were formulated :

Objectives

- To measure the anxiety of IBS-C patients
- To explore the quality of life (QoL) of IBS-C patients as an impact of anxiety.

Hypotheses

- Patients who are suffering from IBS-C will show more anxiety as compare to the Non-IBS participants.
- QoL of IBS-C patients will be poor than the Non-IBS participants.
- Male and female patients of IBS-C and Non-IBS participants will differ significantly on anxiety
- Male and female IBS-C and Non-IBS participants will differ significantly on quality of life.

Sample

Total 100 participants were comprised for this study. 50 IBS-C patients and 50 Non-IBS participants were selected by using purposive sampling technique. Each group of 50 further divided into gender of participants (25 male & 25 female). Data of IBS-C patients was collected from the hospitals of Haridwar, Roorkee and Dehradun district of Uttrakhand state and Non-IBS participants were also selected from the same districts as mentioned above.

Inclusion-Exclusion Criteria

Inclusion criteria

- Only IBS-C patients were included in the study.
- IBS-C patients and Non-IBS participant who were in between the age range of 35-50 years were included in the sample.

- Participants who did not have any physiological ailments like diabetes, blood pressure, cancer etc. and diagnosed psychological disorder were incorporated in the study.
- Participants who were graduate or above were included in the sample.
- Patients who are suffering from IBS-C for at least five years were made part of the study.

Exclusion Criteria

- Patients who are suffering any other sub type of IBS except IBS-C were not included in the sample.
- IBS-C patients and Non-IBS participant who were below 35 years or above 50 years were not selected for the study.
- Participants who have any physiological ailment and diagnosed psychological disorder were not included in the sample.
- Less than graduate participants were excluded from the study.
- IBS-C patients suffering from the disease for less than five years were not incorporated in the sample.

Procedure for data collection

For collecting data for this study researcher visited different hospitals of Haridwar, Roorkee and Dehradun district of Uttrakhand state. Diagnosed IBS-C patients who fulfill the inclusionexclusion criteria were contacted individually as per date and time of their convenience. By making good rapport, purpose of the study was explained to the participants and was assured that their responses will be kept confidential. After that researcher provide personal information performa, Sinha comprehension anxiety test and P.GI. quality of life scale to the participants by giving proper instructions according to the each test.

Non-IBS participants were randomly selected from the same cities and districts *as mentioned above keeping in view the inclusion-exclusion criteria. They were also given the same instruction as to IBS-C patients for completing the inventories.*

Measuring Tools

Tool 1: For collecting personal information according to inclusion-

exclusion criteria of the participants. Personal Information Performa was used.

Tool 2; For measuring anxiety Sinha's comprehensive anxiety test (SCAT-ss) constructed and standardized by A.K.P Sinha and L.N.K. Sinha was used, it consist of 90 objective type items with two alternative each "yes" and "no". Score can range in between 0-90, high score indicate higher anxiety.

Tool 3; For assessing quality of life P.G.I quality of life scale constructed and standardized by M.C. Moudagi was administered individually on each participant, this scale had 26 items with five alternatives each ranged from negative to positive, score can fall in between 26-130, high score indicate better quality of life.

Results

Table-1 Comparison between IBS-C patients and Non-IBS participants on the variables of anxiety and quality of life (M, SD & 't' value).

Variable	Group (N=50)	M	SD	't' value
Anxiety	IBS-C	33.24	14.668	3.58**
	Non-IBS	22.4	15.850	
QOL	IBS-C	84.6	14,749	4.21**
	Non-IBS	97.26	15.326	

Table 1 indicated significant difference between anxiety as well as quality of life of IBS-C patients and Non-IBS participants ($t = 3.58$, $p < 0.0$ & $t = 4.21$, $p < 0.01$ respectively). High anxiety was found in IBS-C patients ($M = 33.24$) as compare to the Non-IBS participants ($M = 22.4$). Quality of life of IBS-C patients also found very poor ($M = 84.6$) in comparison to Non-IBS participants ($M = 97.26$). Hence the hypothesis is accepted at both the level of confidence.

Table 2 Comparison between gender of both the groups (IBS-C & Non-IBS) on the variables of anxiety and quality of life (M,SD, 't' value)

Variable	Gender of the participants (N=25)	M	SD	't' value
	IBS-C male	34.52	16.87	
	IBS-C female	31.96	12.29	0.61
Anxiety	Non-IBS male	23.92	16.38	
	Non-IBS female	20.88	15.47	0.67
	IBS-C male	83.52	17.39	
	IBS-C female	85.68	11.79	0.51
QoL	Non-IBS male	93.44	15.97	
	Non-IBS female	101.08	13.93	1.80

Table 2 showed no significant difference between male and female of IBS-C as far as Non-IBS participants on the variables of anxiety and quality of life. Hence the hypothesis is not found to be significant at any level of confidence.

Table 3 Comparison between male as well as female of both the groups (IBS-C & Non-IBS) on anxiety and quality of life variables (M, SD,'t' value).

Variable	Male as well as Female of both the group (N= 25)	M	SD	't' value
Anxiety	IBS-C male	34.52	16.87	
	Non-IBS male	23.92	16.38	**2.25***
	IBS-C female	31.96	12.29	
	Non-IBS female	20.88	15.47	**2.80****
	IBS-C male	83.52	17.39	
QoL	Non-IBS male	93.44	15.97	**2.10***
	IBS-C female	85.68	11.79	
	Non-IBS female	101.08	13.93	**4.04****

Table 3 depicted significant difference between male of both the groups (IBS-C & Non-IBS) on anxiety and quality of life variables (t = 2.25, $p < 0.05$ & t = 2.10, $p < 0.05$ respectively). IBS-C males showed high anxiety (M = 34.52) and poor quality of life (M = 83.52) at 0.05 level of confidence than the Non-IBS participants (M = 23.92 & 93.44

respectively). Although female also showed the same trend on both the variables (anxiety & quality of life) but found significance at both the level of confidence (t = 2.80, $p < 0.01$ & t = 4.04, $p < 0.01$ respectively).

Table 4 - Interaction between groups (IBS-C & Non-IBS) and gender (male & female) on the variable of anxiety and quality of life (2x2 ANOVA)

Variable	Source of variance	F value
	Groups (IBS-C & Non-IBS)	9.38**
Anxiety	Gender (male & female)	0.54
	Group x Gender	0.18
Quality of life	Group (IBS-C & Non-IBS)	16.31**
	Gender (male & female)	2.43
	Gender x Participant	0.76

In table 4, F values for groups (IBS-C & Non-IBS) was found significant on the variables of anxiety (F = 9.38, $p < 0.01$) and quality of life (F = 16.31, $p < 0.01$). Hence, it is clarified that IBS-C patients and Non-IBS participants differ significantly on both the variables. However no significant interaction effect found between the two (Groups X Gender).

Table 5 - Correlation between anxiety and quality of life of IBS-C patients and Non-IBS participants.

For exploring significant relationship between the two variables (anxiety & quality of life) researcher used the correlation coefficient table given by Hinkle, D.E., Weirsma, W. & Jurs, S.G. (2003)

Groups	r value	Level of correlation
IBS-C	-.77	High negative correlation
Non-IBS	-.57	Moderate negative correlation

Table 5 - denoted that patients of IBS-C have high negative correlation between anxiety and quality of life (r = -.77). Whereas moderately negative correlation was found between anxiety and quality of life of Non-IBS participants (r = -.57). This kind of relationship confirms the effect of anxiety on quality of life of IBS-C patients.

Discussion of the result

Results of this study indicated that IBS-C patients have high anxiety and poor quality of life in effect of their disease (Table 1). In terms of

gender, male and female suffering from IBS-C showed more anxiety and poor quality of life than the Non-IBS male and female (Table 3) IBS-C females had more significant results than the males of IBS-C on both the variables females had more anxiety, it may be because symptoms of IBS-C like bloating, face pimples, acne etc. can be more stressful for females as they are more body conscious. Females are also considered primary care giver of the family so if they are unwell they started to take on additional stress about how the home will be managed or taken care off if their health continues to get worst. These factors can be a reason of more significant results in females than males. High negative correlation was found between anxiety and quality of life of IBS-C patients (Table 5).

Findings of this study clarified that IB-C patients have higher anxiety and poor quality of life than the counter group. Symptoms of IBS-C wax and wane, they are not consistent as a result, the uncertainty of symptoms often creates an anxiety in patients. Researchers have started viewing IBS as disorder with disruption in the interaction between brain and gut. IBS can also develop due to unhealthy lifestyle it is a gastrointestinal disorder, patients generally visit physicians or gastroenterologist so it is important to creates awareness among doctors to consider the psychological factors while treating IBS-C patients.

Results similar to the present study were also found by Hu, Li, Yao, Wang and Wang. (2021) by examining the anxiety and depression of IBS patients they found significant difference between healthy controls and IBS patients on anxiety and depression. Torkzadeh, Danesh, Mirbagher, Daghaghzadeh and Emami (2019) studied the quality of life in patients with Irritable bowel syndrome they found better quality of life in control group than the IBS Patients. The association between QoL and depressive symptoms in IBS patients was also studied by Kopczynska, Mokros, Pietras and Panas (2018) and found significantly lower quality of life in IBS patients compared to the control group. Study conducted by Banerjee, Sarkhel, Sarkar, & Dhali (2017) on anxiety and depression of irritable bowel syndrome patients also support the result of this study result reported that anxiety was found higher ($p < 0.01$) in IBS group in comparison to control group.

Results on a line supported the findings of this study are as follows:-

Cho, Park, Lim, Cho, Lee et al. (2011) also conducted a study on anxiety, depression and quality of life of Korean IBS patients and found

similar results indicated that anxiety and depression was higher in Korean IBS group ($p < 0.05$) the severity of their symptoms which further impair patient's QoL. Similar conducted by Gaber (2016) also supported results of the current study he studied the relationship between IBS, depression, anxiety and stress among sample of irritable bowel syndrome patients. Results revealed statistically significant correlation between IBS & anxiety, IBS & depression and IBS & stress. Gralnek, Hays, & Kilbourne (2000) also assessed the impact of IBS on health related quality of life (HRQOL) and found significant impairment in HRQOL in IBS group ($p < 0.001$) in comparison to healthy adults.

This study also underlines the need of understanding basic Ayurvedic diagnosis in which each personality is distinguished at a subtler level than in conventional diagnosis. By understanding *prakṛti*, one may try to prevent the incidence of a disease by avoiding known contributory factors and also manage the patient better knowing his/her inherent strengths and weakness to tackle the disease. Recent research has also put forward the fact that identifying the *prakṛti* may be of great help in predicting proneness to a disease and individualizing therapy. Shilpa & Venkatesha Murthy (2011) also postulated that it should be possible to group people based on their physical characteristics and be able to predict their psychological manifestations.

Conclusion

- IBS-C patients showed high anxiety in comparison to Non-IBS participants.
- Quality of life was found better in Non-IBS participants than the IBS-C patientss.
- Males and females patients of IBS-C had more anxiety than Non-IBS males and females.
- IBS-C male and female have poor quality of life in comparison to male and female of Non-IBS.
- High negative correlation was found between anxiety and quality of life of IBS-C patients.

Limitation and suggestion

- Sample size should be increased in further studies for getting more significant results.

- Other variables like stress, depression, psychological wellbeing etc. should also be studied in future research.
- Various sub type of IBS like IBS-D, IBS-M etc can also be taken in consideration for further studies.
- Different age groups other than 35-50 years should also be studied in future research.

Significance of the study

The main purpose of this study was to provide a vision of IBS patients how they improve their quality of life and minimize their anxiety and also aware to them that how their anxiety can worsen their IBS symptoms and trigger in the development of disease and can further deteriorate their quality of life. Patient should be learn to manage negative emotions which are responsible for the disease like anger, stress, fear, and anxiety etc. by using stress management techniques like meditation, yoga, counseling, cognitive behavior therapy and many more with which patient feel comfortable. When a patient visit a doctor generally medicines are prescribe for symptoms relief but due to brain gut connection in IBS, change in brain (cognition) is equally important for providing long term symptom relief to the patients. Pharmacological treatment which involves allopath, ayurvedic treatment, homeopath etc. should also go hand in hand with psychological intervention and other psychological assistance which can help in eradicating negative feelings, thoughts and experiences.

Thus, perspectives of looking at a health problem may be different in allopathic and Ayurveda but integrating both allopathic and Ayurveda approaches will go a long way in providing a complete cure for a diseased condition. To bridge the gap between conventional medicine and Ayurveda such studies are required.

References

- Banarjee, A., Sarkhel, S., Sarkar, R., & Dhali, G. K. (2017). Anxiety and depression in IBS. *Indian Journal of psychological medicine*, 39(6), 741-745.
- Bansal, C.P., & Bhave, S.Y. (2006). Stress in Adolescents and its Management. In Bhave, S.Y. (Eds.), *Bhave's Textbook of Adolescent Medicine* (pp. 844-53). New Delhi: Jaypee Brothers Medical Publishers.

- *Bouras, H., & Holt, G. (2007). Psychiatric and Behavioural disorders in intellectual and developmental disabilities (2nd ed.). Cambridge University Press.*
- Bradesi, S., McRoberts, J. A., Anton, P. A., & Mayer, E. A. (2003). Inflammatory bowel disease and irritable bowel syndrome: seprate of unified current opinion in Gastrenterology, 19(4), 346-342.
- Cho, H. S., Park, J. M., Lim, C. H., Cho, Y. K., Lee,I. S., Kim, S. W., Choi, M., Chung, I., & Chung, Y.K. (2011). Anxiety, Depression and Quality of lifein patients with Irritable bowel syndrome. *Gut Liver*, 5(1), 29-36.
- Costa, M., Brookes, S., & Hennig, G. W. (2000). Anatomy and physiology of the enteric nervous system, Gut, 47(4), iv15-iv19.
- Everhart, J.E., & Renault, P.F. (1991). Irritable bowel syndrome in office-based practice in the United States. *Gastroenterology*, *100*(4), 998-1005
- Gaber, O.H. (2016). The Relationship between Irritable Bowel Syndrome, Depression, Anxiety, and Stress among a Sample of Irritable Bowel Patients - Predictive Study. *Journal of Sociological Research*, 7(1).
- Gralnek, I.M., Hays, R.D., & Kilbourne, A. (2000). The impact of irritable bowel syndrome on health-related quality of life. *Gastroenterology*, 119, 654-660.
- Hu, Z., Li., M., Yao, L., Wang, Y., Wang, E., Yuan, J., Wang, F., Yang, K., Bian, Z. & Zhong, L., (2021). The level and prevalence of depression and anxiety among patients with different subtype of IBS: a network meta-analysis. *BMC Gastro- enterology*, 21(1), 23. Doi: 10.1186/s12876-020-01593-5.
- Kopczyñska, M., Mokros, L., Pietras, T. & Panas, E. M. (2018). Quality of life and depression in patients with irritable bowel syndrome. *Przeglad Gastroenterologiczny*, 13(2), 102-108. doi: 10.5114/pg.2018.75819.
- Shilpa, S., Venkatesha Murthy CG. (2011) Understanding personality from Ayurvedic perspective for psychological assessment : *A case Ayurveda*, 32, 9-12
- Solomon, G.F. (1987). Psychoneuroimmunology: interactions between central nervous system and immune system, *Journal of Neuroscience Research*. 18(1), 1-9.

- Smith, M.E., & Morton, D.G. (2001). *The digestive system: basic science and clinical conditions*. London: Churchill Livingstone.
- Torkzadeh, F., Danesh, M., Mirbagher, L., Daghaghzadeh, H. & Emami, M. H. (2019). Relations between Coping Skills, Symptoms Severity, Psychological Symptoms, and Quality of Life in Patients with Irritable Bowel Syndrome. *International Journal of Preventive Medicine*, 17(10), 72. doi: 4103/ijpvm. IJPVM_464-17.
- Tortora, G.J., & Grabowski, S.R. (2000). *Principles of anatomy and physiology* (9th ed.). New York: John Wiley & Sons, Inc.
- Van Vorous, H. (2000). *Eating for IBS*. New York: Marlowe & Company.
- World Health Organization (2008). *The Global Burden of Disease*. http://www.who.int/healthinfo/global_burden_discase/GBD.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (147-156) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

The Universal Science of Gāyatrī Mantra and Its Practical Application

Dr. Dev Prakash*

Surya Vidya - A method for enhancing intelligence, activity and vitality & eradicating diseases of the body, mind, and soul.

Ṛiṣi - Vishwāmitra | Devatā - Savitā | pūrvasya daivī bṛhatī chanda, tatsavitur ityuttarasya nicṛd gāyatrī chandah | madhyamaṣaḍjau svarau ||

OM Bhūrbhuvaḥ Svaḥ. Tatsaviturvareṇyaṃ
Bhargo Devasya Dhīmahi| DhiyoYo Naḥ Pracodayāt.

This Mantra describes the intelligence, memory and vitality enhancing *Surya Vidya (Science of the Sun)*. Together with improving intellectual capacity and boosting vital energy, *Surya Vidya*, if implemented in the correct manner, also eradicates diseases of the body, mind, and soul, and inspires all of humanity to perform noble deeds.

The *Gayatri Mantra*, which is related to universal progress, is found once in the *Rig Veda*, four times in the *Yajur Veda*, once in the *Sāma Veda*, twice in the *Taitreya Saṃhitā* and once in the *Taitreya Āraṇyaka*, fora total nine instances[1]. This mantra has also been called the *Guru Mantra* - in the same way that the best learned Guru removes shortcomings from his disciple, this Gayatri Mantra also destroys the sins = diseases of its practitioner through methodical and scientific practice.

Let us contemplate - Is it possible to imagine life without the Sun? The answer is, of course not. Just as it is not possible to imagine life without the Sun, similarly, without the accurate science of the Sun God *(dev)*, real use of the full powers of the intellect, vital force, mind, body, soul, etc. is not possible. Without the proper use of the above-mentioned powers, living a life and performing deeds of the highest quality is also not possible.

---

* Department of veda, Gurukul kangari Deemed to be University

1. rig 3.62.10; yaju 3.35; 22.9; 30.2; 36.3; sāma 1462; taiti. sa. 1.5.6.4; 4.1.11.1; taiti. ā. 1.11.2

Additionally, It is natural for every human being to desire happiness, peace, prosperity, good health, good intellect, a mind with pure intentions, etc, irrespective of the religion, sect, or tradition a person belongs to, whether they reside on earth or anywhere else in the universe, whether that person is a student, a teacher, the president, a prime minister, a farmer, a laborer, an officer or a scientist; Whether they are a woman, a man, a theist or an atheist, etc. etc. But how can one attain the above-mentioned happiness, peace, prosperity, good health, good intellect, a pure, well-intentioned mind etc.? Its science is not taught in any school, college, university or scientific research institute of the world. Many familial, societal, national and global problems have taken birth in the world today due to the lack of study of this science of happiness, peace etc, such as stress, fear, suicide, mutual conflict and many types of physical, mental and spiritual diseases.

Just like driving a car or an aircraft requires training - in the same way does one not require training to understand - How does our mind work? And how do we embody it with pure intentions? What is the main function of intelligence in our life? And how do we enhance its *sattva* or pure intellect? How is our *praṇa* or vital force related to our life and to physical and mental well-being? What is the importance of good deeds in our life? And what is the importance of the Science of the Sun in the good health of the important aspects of our life - intellect, mind, vital force, body etc. and in the prevention of human diseases? Do human beings who want universal progress not need this training? This Universal Science of the Sun has, therefore, been described in the Gayatri Mantra for the welfare of the humanity.

The fact to be considered is, whether the Sun is Hindu, Buddhist, or Muslim, or Christian, or Jewish, a theist or an atheist, a woman, a man, or a child, or a young man, or an old man, an Indian, Pakistani, or American, or European, or Chinese, or Arabian, etc.? Your response would be that 'you are doing meaningless discussing'. The sun is universal! It has no relation to Hindu, Muslim, Christian or Buddhist etc.

So, just as you have accepted that the sun is universal, belongs to us all and is beneficial to all, equally the divine texts, the Vedas, which describe the origin and evolution of that Sun, the science related to this process and the benefits thereof, for all our welfare, The Vedas are not sectarian neither Those are associated with Hinduism only. In fact, The *Vedas* are for the benefit of every human being, without exception or

discrimination, as explained in the Vedas themselves:

"yathemāṃ vācaṃ kalyāṇīmāvadāni janebhyaḥ. brahmarājanyābhyāṃ śūdrāya cāryāya ca svāya cāraṇāya ca."[1]

Those who comprehend the *Vedas* and apply their teachings in their life will undoubtedly progress in all avenues of life. The mantra of this Universal Science of the Sun is the Gayatri Mantra. May you enjoy happiness, peace, prosperity, good intellect and mind etc. by performing the best deeds guided by the Science of the Sun as described in the Gāyatri Mantra - this is our prayer to the Sun God.

The Science of the Gāyatrī Mantra (Savitā Devatā or Sun God)

The science related to the deity of this Gāyatrī Mantra is inspiring us that if you are suffering from physical **"Anu Sūryamudayatā Hṛddyotoṃ Harimā Ca Te"**[2] (heart disease, jaundice or head diseases), mental (envy, anger, stress etc.) or spiritual (malice, unhappiness, ignorance or distress) diseases (sins) or want protection from these diseases, then you must get to know the true nature of the Science of Savitā or Sun God as described in the Vedas, as well as internalize and apply it accordingly.

When applied or carried properly, I, *Savitā Dev (Sun God)*, with my bright light, besides eradicating the above-mentioned diseases (sins), can enhance your intellect, wisdom, memory power, vitality, physical strength, mental power and spiritual power. I have the capacity to cleanse the 72,72,10,201 *nadis* or nodes within you and transform you from human to divine. O human, take refuge in me and see that I don't fulfil you with vitality, wisdom, intellect, comfort, peace, happiness, prosperity, strength, excellent health, joy and enthusiasm. This is because I am store house of cosmic, real, and an endless source of *ūrjā or energy*, power, and nutrition.

Lack of energy is the cause of physical, mental and spiritual sins (diseases). Upon appropriate methodical application, I will fill you with vital energy and eradicate all your imperfections - this is the reality of life. Because I am also nutrition[3], the purifier[4], the provider of health[5], the

---

1. yaju 26.2
2. atharva 1.22.1
3. "annam vā ādityāḥ" taiti. sa. 5.3.4.3
4. "tadvai supūtaṃ yaṃ devaḥ savitāpunāt" śata. 3.1.3.12; "etadvā achidraṃ pavitraṃ yatsīryasyaraśmayaḥ" maitrā. 3.6.3; 4.4.2
5. "ārogyaṃ vai bhāskarādicchet"

destroyer of all evils[1], the fulfiller of the prosperity and of all desires. I am the motivator of Puruṣārtha catuṣṭaya (The four primary endeavours of the soul - Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa). It is I, who is called Savitā (the rising sun).

"Devasya Paśya Kāvyaṃ Na Mamāra Na Jīryati"[2] - whatever is happening in this world, it can not occur without my power or energy. Every breath that you take is powered by me. Everyone's existence is supported by me, whatever you do with your body, mind, intellect and soul; whatever is happening within them, it is made possible by just a fraction of my power. It is a matter of great misfortune, that I want to make you a complete human being by filling you with energy physical, mental and spiritual energy, through my cosmic power but despite this, you are leading an ordinary life by availing yourself of only a minute portion of my energy. When you know and hold the power of the Sun or *Savitā* in its true form, you become a complete person filled with the entirety of physical, mental and spiritual power by utilizing 100% of your genetic code (DNA), know and attain the four principal endeavours of the soul, the *Puruṣārtha catuṣṭaya* = four efforts (Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa) in reality, and progress from humanity to divinity and from divinity to *ṛṣitva* or sagehood (a state of true wisdom and knowledge), only then, the purpose of my existence will be fulfilled.

The scientific (true) meaning of Gāyatrī Mantra - Now, let us consider the science of the Gāyatrī Mantra. The inspirer, purifier, provider of health, vitality and supreme intellect, *Savitā Devatā* or Sun God (Bhūḥ) by means of methodical application of the Science of Savitā through our sense organs, different parts of our body, *mantras*, medicinal products and instruments resulting in the true flow of the vital force in these organs which through the attainment of vitality and energy forms the basis of our life force, **(Bhuvaḥ)** who is the destroyer of sorrow, being the preventer of diseases (sins) both physical like heart and eye diseases and mental stress, anger, jealousy etc, **(Svaḥ)** who, when used properly, removes spiritual diseases, hatred, unrest, sorrow, ignorance etc, being a limitless source of pleasing divine light, through wisdom and intellect bestows lasting happiness.s

---

1. "savitarduritāni parāsuva" yaju. 30.3
2. Atharva10.8.32

The method of obtaining the benefits of *Savitā Devatā* - in this manner, the deity of *Savitā*, who is the preventer of physical, mental, spiritual diseases **(Saviturdevasya)**, the abode of divine qualities, the purifier, the inspirer, bestower of good health,whose **(Vareṇyaṃ bhargaḥ)** luminescent *Savitā* rays, which contain the venerable, sustainable, worshipable, fire element (energy), seed or power of *Āgneya*[1] (fire/heat), *Āpya*[2] (water), and *Candramā*[3] (moon) related qualities; *That Savita* Devatā, for the prevention of physical, mental and spiritual diseases (sins) and attainment of varied forms of energy, we **(Tat Dhīmahi)** the knowers of the Science of the Sun and those desiring a multitude of benefits, methodically imbibe through our eyes, body and other instruments.

The benefits of imbibing or receiving the *Savitā* rays (Luminescence) - (Yaḥ) when properly assimilated, the *Āgneya (fire/heat)*, *Āpya (water)*, and *Candramā (moon)* qualities (particles) which embody the radiance, seed or energy of *Savita devata* (Naḥ) for us, those who methodically worship or make use of the deity *Savita*, (Dhiyaḥ) through wisdom[4], superlative intellect, memory power, the mental power for pure intentions, vital power, power of the senses, capacity to bear, the power of strength, the power within the *Saraswati Nadi* or node, the power to do the best deeds for the attainment of the four principle endeavours of the soul, *Puruṣārtha Catuṣṭaya*= four efforts (Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa) in their true form and through noble deeds (Pracodayāt) inspire us to become a complete *Ārya* - a person with superior or noble character and to make the world noble around us **"kṛṇvanto viśvamāryam"**[5]

Gist/Summary:- The Gāyatrī Mantra describes the bearer of the Earth *Agni* (fire/heat), the bearer of the atmosphere *Vāyu* (Wind/mover), the bearer of outer space *Āditya* (Sun)and within spirituality that which motivates and gives strength to the three types of vital force - *Prāṇ, Apān* and *Vyān*, that which destroys the physical, mental and spiritual diseases (sins) in their entirety for the attainment of happiness, peace, prosperity, good health, enthusiasm and joy, the sustainer of our vitality, remover of

---

1. "agnireva savitā" go. 1.1.33; jai. u. 4.12.1.1; "agnireva bhargaḥ" go. 1.5.15
2. āpo vai tapan ādityaḥ apāmāyatanamāyatanavān bhavati. taiti. ā. 1.22.3
3. candramā vai bhargaḥ jai.u.4.12.2.2
4. "medhāṃ sūryasya raśmibhirvarcasā veśayāmahe" atharva. 6.108.5; 6.108.1
5. rig. 9.63.5

sorrow and bestower of happiness, who through their magnificent radiance purifies us - from that *Savitā Devatā/Deity* (The rising sun), we imbibe/ receive radiance and energy through our eyes and other organs; We forbear that radiance in our well-intentioned mind, within our wisdom and intellect, in our food and through instruments and achieve electric power and energy. Through which we become theroughly noble ourselves and through pure intentions, intelligence and wisdom, make the world also noble and prosperous and in doing so remain joyous.

Practical form of the *Gāyatrī Mantra (Science of the Sun)*

1. During sunrise, while reciting Gāyatrī Mantrā, watch the Sun (through theeyes) for 3 to 5 minutes - care should be taken to ensure that this is done early in the morning and not once the sun has fully risen. Then, close your eyes, vigorously rub your palms together, place them over your eyes, slowly open your eyes while they are covered in this manner. Repeat this latter step three times. Gradually increase the time methodically. With a few months of practice, it can be done till one *Muhurta* = Auspicious beginning (48 minutes). According to **"Yatpiṇḍe Tatbrahmāṇḍe"** the eyes are representative of the sun. **"Cakṣoḥ Sūryo'jāyata"**[1] **"Udyantamādityamīkṣet"**.

Note :- It is advisable for this procedure to be performed after learning it under the supervision of a solar science expert. The author has built many years of experience in the Science of the Sun and the method of imbibing or forbearing the radiance of Savita for the prevention of physical, mental, spiritual flaws and for the enhancement of wisdom, intellect, memory and vitality etc.

2. Offer *Arghya* (water) to the Sun while reciting the Gāyatrī Mantra - Take water in a copper vessel (small pot) and pour a steady stream on the Tulsi plant. During this process the rays of the sun are reflected, enter our body and serve to eradicate a host of diseases.

3. Bathe in sunlight while reciting the Gāyatrī Mantra.

4. Process of making *Amrit* (Elixir of life) water from the Sun :

divā sūryāṃśu santaptaṃ niśi candrāṃśu śītalam। kālena pakvaṃ nirdoṣamagastyodaya nirviṣam॥ aṃśūdakamiti khyātaṃ śāradaṃ vimalaṃ śuci: । snānapānāvagāheṣu śasyate tad

---

1. yaju. 31.12; rig. 10.90.13

yathāmṛtam||[1]

Meaning: - Describing the qualities of *Anshudak*, it is said that the water which is heated by the sun's rays during the day and cooled by the moon rays in the night, over time becomes free of faults, and when it comes in contact with the rays of the *Agastya* star (*Canopus*, in the constellation *Carina*, a known source of X-rays) as it rises, the water becomes free of poison; Such clean and clear water of *Sharad* (autumn) is called *Anshudak*. This water is equivalent to divine nectar or the Elixir of life and is useful for bathing and drinking.

The method of preparing nectar/elixir from the sun for drinking - Collect the autumn rain in a pitcher or fill other drinkable water in a clear glass vessel with a glass or wooden lid; Place this water on a wooden surface in the light of the sun or the moon for one day and night (24 hours); Subsequently, this water can be taken in appropriate quantities in the morning on an empty stomach, or at night before bed or an hour and half after your meal. This water, just like an elixir or nectar will destroy diseases like pitta (disruption of the fire or digestive element within the body) and it improves the intellect.

5. Make *Sūrya taapi Śilājit* (heated or cooked by the sun)or mineral pitch, which is like an elixir of life, through due process and consume it in appropriate quantities, because *Śilajit* has the power to forbear or hold the seed or energy of the sun.

6. White Ark = *Calotropis gigantea* (medicinal plant) is also full of the seed or radiance of the sun. The appropriate consumption of this medicinal plant under the guidance of a physician also results in the assimilation of the energy of the sun.

7. Cows have a *Sūryaketu nādi* (node or pulse signifying the Sun). The radiance of the sun can also be absorbed by consuming cow ghee, milk, curd and urine through due process.

8. **"Yave Ha Prāṇa Āhito"**[2] The *prāṇa ṣakti* (solar energy) within the yava (barley) is high. Imbibe the power of the sun by utilizing barley properly in the form of food.

9. Fruits are a veritable storehouse of the sun's radiance. By taking fruit appropriately, the radiance of the Sun can be absorbed thus destroying

---

1. dhana. nigha. su. varga. 127.281-282
2. atharva. 11.4.13

physical, mental and spiritual diseases as well as harmful micro-organisms.

10. Our inner *Sūrya* or solar energy is awakened by resolution (oath). Make sure you commit to some great resolution in life.

11. Performing *Yajña* awakens the solar energy as well as many other divine energies within us. Thus, it is important to perform *Yajña* with the recitation of the Gāyatrī Mantra for the acquisition of these energies.

12. **"Annaṃ Vā Arkaḥ"[1] "Annaṃ Hi Prāṇaṇ"[2]** By forbearing the radiance of the sun, the need for food (energy) is also fulfilled. Due to this supply of energy, the requirement for food may be subjugated.

13. **"Bhuvanajñānaṃ Sūryesaṃyamāt"[3]** Yoga science says that the knowledge of the universe is attained through the control of solar energy.

14. **"Dyaurnaḥ Pitā Janitā"[4]** The sun is our genetic father. Therefore, all of our genetic code (core element) is related to the Sun.

15. **"Udyannādityah Krimīnhantu"[5]** The radiance of the sun has germicidal power. We can destroy the harmful micro-organisms in our body by sun-bathing through appropriate procedure.

16. **"Janmauṣadhimantratapaḥsamādhijaḥ Siddhayaḥ"[6]** The siddhis (special acquisitions) arising out of birth, medicine, *mantra*, austerity and samadhi also have a special relationship with the worship of the Sun. For this reason, the deity *Savita* (the rising sun) should be duly worshiped through the Gayatri Mantra.

17. To have a long life with optimal health, it is crucial to make appropriate use of the Science of the Sun.

Thus we have briefly discussed the method of acquiring the sun's radiant energy to prevent disease (sin) and increase intellect, memory, vitality etc. May you attain all comforts and joy by applying and embracing this science methodically as described.

Other instruments, methods and means are also feasible to capture the solar radiation/energy.

---

1. gopatah. 2.4.2
2. śata. 2.2.1.6
3. yoga. 3.26
4. atharva. 9.10.12
5. atharva. 2.32.1
6. yoga. 4.1

If further research is done on Vedic Knowledge, all the energy needs of the world can also be solved by harnessing the radiance and energy of the sun by means of various instruments and technologies.

Note - According to the Vedas, gold is said to be the brightness of the sun. And Savita is said to be endowed with golden hands **"Hiraṇyapāṇiḥ Savitā"**[1]. In future, it may become possible through technology that gold can also be obtained from the sun's rays.

Summary of the science of the Gāyatrī Mantra

In truth, not just in India, but in all the countries, cultures and civilizations of the world, the worship of the Sun is evident in some form or the other. Sun temples found in Koṇārk (Modern day Odisha) in India as well as in countries like Egypt are direct evidence of this. These temples were once the centres of solar science and worship. In these temples, there was training in the knowledge and science of how to acquire and forbear the true radiance of the deity *Savitā*, for the all-round development of the elements important for life - the body, senses, mind, intellect, soul and their related processes. According to Vedic science, the life of man started 1960853124 years ago, the year refers to as on January 2023 AD. The deity Savita came into existence and has been at work since millions of years before that. Vedic science believes that the all-pervading omnipresent God created the entire universe and the same God has given all the information related to the knowledge and science of the sky, air, fire, water, earth, mind, intellect, sun, moon, planets, stars etc through the Vedas to the four *Ṛṣis (Seers)* at the beginning of creation. In the same Vedas, the entire science of this Sun *(Savita)* has also been given across 1200 mantras.

According to **"Yatpiṇḍe Tatbrahmāṇḍe"** the Sun has a constant relation with our life. Vedic Physiology teaches that our body contains 5 *koshas*, 8 *chakras*, 10 *prana*, mind, intellect, ego, 10 senses, 107 marm (key points) etc. and 727210201 nadis; subtle elements of the sun and all the other devatas are also evident in our body. For their proper use and their purification and health, it is essential to use the Science of the deity *Savita* in the appropriate manner.

Special Note - Science of the origin of the Sun's *(Tej)* radiance/ brightness : *Savitā Devatā*, through whose divine radiance, wisdom,

---

1. rig. 1.35.9; 3.54.11

superlative intellect, memory power, the mental power for pure intentions, vital power, power of the senses, capacity to bear, the power of strength, the power within the *Saraswatī Nādi*, the power to do the best deeds for the attainment of the four principle endeavours of the soul, *Puruṣārtha Catuṣṭaya* = four efforts (Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa) etc. are made possible - How is that pranic or vital power and energy within the Savita Devata generated? In this regard, the Vedas have said **"Apāṃ Rasamudavayasaṃ Sūrye Santaṃ Samāhitam । Apāṃ Rasasya Yo Rasastaṃ Vo Gṛhṇāmyuttamam"**[1] means that the interior of the Sun is filled with the rasa = essence (subtle fraction) of the *aapah tattva* (waters), which is essential for an exceptional life. Through some processes within the Sun, further essence of that essence is formed. ***candramā hyetasyānnaṃ ya eṣa (sūryaḥ) tapati"***[2] That means the food of this sun is the moon. ***"candramā u vai somaḥ"***[3] the moon itself It's soma tattva. ***"candrā hyāpaḥ"***[4] That means the moon itself is called *āpaḥ tattva* (waters). The sun shines because of his presence.

I receive this essence in the form of brilliant rays through my eyes and other organs, for a supreme body, mind, intellect, soul and for the destruction of diseases. For supreme societal benefits, I harness the rays through various instruments. In this way, for an all-round development of oneself, society, nation and the world, true application and implementation of the Science of the Sun is required.

alamiti vistareṇa । dhiyo yo naḥ pracodayāt ।

ityom śāntiśśāntiśśāntiḥ ॥

1. yaju. 1.3
2. śata. 4.6.7.12
3. śata. 6.5.1.1
4. taiti. sa. 1.7.6.3

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 10, No. 19 (157-182) July-December 2022 ISSN 2277-4351
UGC CARE listed (Arts & Humanities) RNI : UTTMUL 2012/53882

Importance of the Vedic Christening in the Light of Modern Science

*Mallika Bhattacharjee**

Abstract:- In our cosmic universe, we all living and non-living organism relate to each other through covalent atomic bond forced by electromagnetic vibration which is created by repetitive utterance of name which is manifested by following the rules of Vedic christening or naming ceremony of a child. Because learning and retrieving of sound is the same neural process which is executed by cells interaction which have connected us with electromotive force through transformation of energy following the universal law of electromagnetic induction which is based on thermodynamic theory for a positive and energetic life which is observed in modern time by successful invention of Telephone. This entire process signifies that Our Vedic science and culture is the pre-developmental stage of our modern science and developmental society.

Attributes:- Atomic cell interaction through covalent bond, Electromagnetic vibration, theory of sound and Vedic Christening, Electromagnetic induction, Thermodynamic theory.

Introduction:-

In our cosmic universe, we observe smallest particle which self - revealing to us as an 'atom'. Our entire cosmic world is manifested by 'atom'. Therefore, everything in our cosmos - our mundane world, environment, conscious - unconscious living organism, etc. are made of atoms. Cell formation of the foetus during gestation is only effect of transformation of the atomic cells. Hence, human to celestial - in cell formation we observe presence of atoms everywhere which has bound us in this mundane world by which we always feel alive. All objects which belong to the cosmic and mundane world relate to each other in inseparable way because we are all manifested by the divine super powerful 'electromagnetic force' through covalent bond which bound all cosmic

* Ph.D. Research Scholar, Department of Sanskrit, Rabindra Bharati University, Kolkata, West Bengal, India

objects through magnetic attraction or repulsion of equal or opposite two atoms. These millions of atomic cells communicate with each other through vibrational sound which is created by our unique name and unique properties for positive and energetic life because according to our venerable ancient Vedas, name possesses superlative power, - 'yasya dhāma Śravase nāma indriyam' (Ṛg Veda. 1/57/3, AtharvaVeda. 20/15/3)[1].

Mysteries behind the world creation:-

Our cosmic world is just a reflection and transformation of atomic cells which relate to each other. Now, the question is that what is atom? How are they formed to manifest this cosmic universe? How single atom emerged with other atomic cells and manifest millions of atomic cells which interact with each other?

According to our great scientist Dalton's theory on atomic model, 'atom' is the smallest particle of our universe which is manifested through bonding of three subatomic particles known to us as proton, neutron, and electron among them proton possesses positive electric charge and electron acquired negative electric charge, but neutron remain neutral. Proton and neutron combined to generate positively charged nucleus because of electrically positive charge of proton which vibrates and attracts negatively charged electron which surrounds the nucleus through electromagnetic force and forms an atom.[2] According to the Gilbert's theory of magnetism, positive and negative charge vibrates and attracts each other and oppositely repel each other that means, positive electric charged pole is attracts positive electric charge and negative electric charged pole attracted by negative charge pole which is called repulsive theory of magnetism or magnetic attraction[3]. These vibratory attractive and repulsive attraction between two or more atoms manifested iconic atomic bond and form large molecules and through this method becoming single to millions of molecules, they are responsible to form our cosmic world through covalent bond.[4] Now, the question is that what is covalent bond? How is this bond connected to manifest biological entities to form this mundane world?

---

1. Upadhyay & Upadhyay: 1995, p. 778
2. Gray: 2016, pp. 16 -17.
3. Gilbert: 1958, pp. 28 - 31.
4. Cooper: 2000, The Cell- A Molecular Approach, The Chemical Components of a Cell, Retrieved from, Retrieved from the website www.ncbi.nlm.nih.gov on 4th October 2021.

Covalent bond is a unique universal connector of two or more atoms by sharing equal or unequal electrons. When electrons are unequally shared to two or more atoms, they are formed an ionic atomic structure in which positive charge attracted by positive pole and negative charge attracted by negative pole which is very famous by its unique name 'polar covalent bond' which is extremely essential in biological cell formation and their interactions.[1] This entire atomic cell formation reminds of us our ancient Indian philosophical phrases of nyaya, - 'iśvarasya cikīrṣāvaśāt parāṇaṣuṣu kriyā jāyate. tataḥ paramāṇudvaya saṃyoge sati dvyaṇukam utpadyate. tribhirdvyaṇukaiḥ tryaṇukam. evaṃ caturaṇukādikrameṇa mahāprṭhivī, mahatya āpaḥ, mahat tejaḥ, mahān vāyuḥ utpadyate.' (Tarkasaṃgrahadīpikā, 13)[2] in which they indicated the ionic chemical bond of proton and electron as a 'paramāṇudvaya' which are indivisible and essential to form 'dvyṇuka' or 'atom'. The versatile Indian geniuses also prove the existence of an atom through practical example, - ' jālasūryamarīcisthaṃ sūkṣatamaṃ yad drśyate tat sāvayava? cākṣuṣadravyatvāt patavat. tryaṇukāvayavo api sāvayavaḥ mahad ārambhakatvāt tantuvat. Yo dvyaṇuka avayavaḥ sa eva paramāṇuḥ. sa ca nityaḥ.'[3] This simple example reminds of us scientific two universal theories, viz. law of scattering and Tyndall effect by which we can perceive subatomic particles or atomic molecules of air/dust/water etc. at the time of sunset when a beam of sunlight enters a room through a window at naked eyes.[4]

Polar covalent bond is extremely important in biological cell formation because polar group of molecules (two or more atomic bond) have a distinctive property of acquiring partial positive and partial negative electric charge. Therefore, when two similar group of electrically charged atoms meet each other, they are attracted by repulsive theory of magnetic attraction and create a permanent dipole interaction of equal and opposite pair of electric charges or magnetic poles which are separated by a small distance and manifested an ionic atomic bond by sharing of unequal electrons. These theory of strong repulsive force or attraction of opposite charge are well known to us as a 'Van der Waals radius' and 'Van der

1. Ibid, www.ncbi.nlm.nih.gov on 4th October 2021.
2. Annaṃbhatta: 1976, p. 61
3. Ibid, p. 61
4. Scattering of light and Tyndall Effect, retrieved from the website www.geeksforgeeks.org on 4th January 2022.
   Tyndall Effect, retrieved from the website www.en.m.wikipedia.org on 4th January 2022.

Waals attraction' which are greatly balanced the minimum energy during the interaction between two non-bonded atomic cells. In this way through strong attractive and repulsive attraction between two or more atomic cells of polar or non-polar group of human cells are manifested. Because, human body consists of 70% water, carbohydrates, proteins, lipids, DNA, RNA etc. which are all possess polar nature or water dissolving properties and contains carbon which is famous for its ability to form large molecules without any restriction through covalent bond and can form chains and rings to generate unlimited complex molecules which are crucial for human cell formation, energy production, hormone production and regulation, proper digestion, and other cell functions through their vibratory interaction. Apart from this, non-polar or hydrophobic molecules are similarly attracted by each other to avoid direct contact with water.[1] These polar and non-polar covalent bonds of atomic cells are interacting with each other by producing weakest traceable sound acquiring 1/8th length of short accent which possesses 1 mātrā famed since ancient Vedic civilization as a 'paramāṇu' (vājasaneyī Prātiśākhya, 1/61).[2] When they (atomic cells) interacted with each other through vibration by adequate air flow and pressure from the lungs, they produce verbal sound which is very powerful to create a cosmic world,-

anādinidhanaṃ brahma śabda tattvaṃ yad akṣaram
vivarte arthabhāvena prakriyā jagato yathā

-Vākyapadīya, Brahmakhaṇḍa, śloka,[3]

---

1. Cooper: 2000, The Cell - A Molecular Approach, The Chemical Components of a Cell, Retrieved from the website www.ncbi.nlm.nih.gov on 4th October 2021.
2. Kātyāyana: 1934, p. 26.
   Atom Audio: Scientists listen to sound of quantum vibrations retrieved from the website www.nbcnews.com>science. on 5th January 2022.
   'Talking' and 'listening' to atoms: scientists make acoustic waves couple to an artificial atom from Chalmers University of Technology on September 11, 2014, retrieved from the website www.sciencedaily.com. on 5th January 2022.
   Mannone & Rocchesso: 2020 retrieved from the website www.researchgate.net on 5th January 2022.
   Scientists capture the sound of an atom for the first time by Stephen Luntz on September 12, 2014, retrieved from the website www.iflscience.com>physics. on 5th January 2022.
3. Bhartṛhari: 1971, p. 36.

Sound and Vedic christening:-

Sound is basically mechanical energy and categorically divided into two parts, - instrumental and verbal sound or alphabetic sound produced by human through magnetic vibration and interaction between atomic cells,-'śabdo dhvaniśca varṇaśca mrdaṇgādibhavo dhvaniḥ. Kaṇṭhasaṃyogādijanyā varṇāste kādayo matāḥ' (Bhāṣāpariccheda, 164 - 165).[1]

Sound wave the is most acquainted wave which we experience throughout our life. Pleasing and harmonious sounds refresh and heal us, dissonances irritate us, roaring crowd energize us, and people have acknowledged us by our voice.[2]

This verbal sound is produced by uttering a word[3] which possesses a unique name which discriminate it from other, - 'aṇīyastvāt ca śabdena saṃjñākaraṇaṃ vyavahārārthaṃ loke' (Nirukta. 1/2)[4]. 'Hence, our antique venerable Vedic geniuses emphasized on naming ceremony for naming a child after birth. They were also authorized some specific general rules to execute this custom. According to the ancient Vedic christening, father chooses a name which is consisting of two or four or six syllables in which the whole word will be a krḍanta pada or primary suffix which begins with a sonant followed by a semivowel to execute this archaic ceremony'.[5]

Etymological grammatical and phonological significance behind Vedic christening:-

Etymologically, name or nāma is derived from nāmaṇ which implies a distinctive feature or nature or a unique style of an element which is universal. Literally, name is used to describe persons or elements characteristics to differentiate it from others. Grammatically, the Sanskritic term 'nāma' is considered as a root 'nam' or ṇyanta nāmi's unādi nipāta,

---

1. Viśvanātha: 1977, PP. 266 - 267
2. Waves: Sound and Electromagnetic, Ch. 15, P. 340, retrieved from the website www.web.phys.ksu.edu>chapter15. on 16th January 2022.
3. Pratītapadārthako loke dhvaniḥ śabda iti ucyate (Mahābhāṣya, Prathama āhṇika), Patañjalī: 1968, p.4 retrieved from the web www.archieve.org on 28th April 2022.
4. Yāska: 1921, P. 19
5. Oldenbarg: 1886, pp. 31, 76, 118, 189, 246, 272.
   Retrieved from the web www.archive.org on 15th June 2018.
   Anonymous: 2022, p. 75

'arepasa tavā nāmabhiḥ svaiḥ (ṚgVeda. 1/81/4, Nirukta. 12/3)[1]. In Nirukta, nāma is classified as a pada, 'catvāri padajātāni' (nirukta 1/1); 'satvapradhānāni nāmāni' (Nirukta. 1/1)[2]. 'sidati gacchati liṇga saṃkhyādikam asmin iti sattvam'[3]. Therefore, we can say that the word nāma or name denotes everything that exist anywhere. In revered Bṛhaddevatā, we perceive replication of the same,-

śabdena uccāritena ihayena dravyaṃ pratīyate
tad akṣaravidhou yuktaṃ nāmetyāhur manīṣinaḥ

-Bṛhaddevatā. 1/42.[4]

We also observe repetitious aspects of name, -

'satvābhidhāyakaṃ nāmā' (Vājasaneyī Prātiśākhya. Viii. 50).[5] In the revered Mahābhāṣya of our great grammarian patañjalī uses the term 'sṛṇgāni or vāk parimitā padāni' to describe the importance of name as a verbal sound by following the Vedic verses.[6] Grammatically, the word 'padam' categorically divided into two parts as a suvanta and tiṅanta in which nāman along with upasarga and nipāta belongs to the suvanta pada followed by the 'sup tiṅantaṃ padam' by the rules of paṇini's Aṣtādhyāyī (1/4/14)[7]. Our ancient, revered philosopher Buddha stated that four discorporate constituents of human's personification viz. feelings, ideations, mental formation and disposition and consciousness are denoted by the term nāma. All these unidentifiable elements are combined with other material qualities such as configuration, size, and weight to manifest the individual mortal. Not only that, physical and mental qualities are hidden within the mysteries of the name of any substance,- 'namati ākhyāta śabde guṇabhāvena athavā namayanti svayam artham ākhyāta śabda vācye guṇabhāvena iti nāmāni' (Nirukta, comm of Durgacarya 1/1).[8]

---

1. Upadhyay & Upadhyay: 1995, p. 778
2. Yāska: 1921, P. 5
3. Upadhyay & Upadhyay: 1995, p. 778
4. Macdonell: 1904, p. 4
5. Kātyāyana: 1934, pp. 325 - 326
6. 'catvāri śṛṇgā..... maho devo martyā āviveśa'
   'Catvāri vak parimitā padāni..... .turīyaṃ vāco manuṣyā vadanti'. (Mahābhāṣya, Prathama āhṇika) Patañjalī:1968, p.12 - 13 retrieve from the web www.archieve.org on 28th April 2022.
7. Pāṇinī: 2021, p. 9 retrieved from the website www.sanskrit documents.org on 12th April 2022.
8. Yāska: 1921, p. 15

In the famous bhāṣāpariccheda of Indian Naiyāyika Viśvanātha, name is possessed supernatural forcible power of the universe, -'śaktis ca padena saha padārthasya sambandhaḥ. sā ca asmāt śabdāt ayam artho voddhavya iti īśvarecchārupā. ādhunike nāmni śaktir asti eva ,'ekādaśe ahani pitā nāma kuryāt' iti īśvarecchāyāḥ sattvat. ādhunik saṃketite tu na śaktiḥ iti saṃpradāyaḥ. navyāstu - īśvarecchā na śaktiḥ, kintu icchaiva. tena ādhunika saṃketite'pi śaktiḥ asti eva iti āhuḥ' (Śabda Khaṇdam, Bhāṣāpariccheda)'.[1]

Our ancient Vedic oracles commanded regarding naming ceremony. They emphasized on sonant at the beginning of manifestation of a name.

The modern science of phonetics reveals that among the alphabetical distinction pitch and toned inflexions or voiced pitch should be categorized as valuable, and it also aids to the discrimination of meaning. Sonant is emphatically a plus element. It is the effect of a definite muscular action which is not negative, but positive. It does not come in insidiously as the result of a relaxation, a letting go of anything anywhere. It is only brought about by setting in action a separate piece of muscular apparatus, which in surd (voiceless) utterance lies idle: the vocal cord must be so adjusted and stretched that the air forced through them shall set them in vibration. A diminution of muscular effort, so far as this apparatus is concerned, tends to the reduction of the glottal aperture to the position of breathing, and so to the substitution of surd utterance for sonant and that a falling off articulating energy in the oral organs should have tendency to awaken a compensating activity in the larynx (part of a vocal cord). It is indeed true that, the cord once narrowed to the sonant position, their closeness makes the column of expelled air a thinner one. As for example, in the fricative pairs as 'f' and 'v', it may be allowed that the glottal closure thins the current that is seeking exit at the labial closure, and perhaps makes the expenditure of breadth less in the 'v' than in the 'f', therefore, phoneticians refer sonant as a 'strong positive sound'.[2]

Our venerable Vedic prophets advised us to add semivowel after sonant for manifestation of a name. According to our modern scientific phonology, 'semi vowels are belonging in the class of sounds which are either from their character as utterances intermediate between vowel and

---

1. Anonymous: 2022, p. 74 & 80, Bhatta: 1827, pp. 57 - 58
2. Whitney: 1877, pp. 45 -46 retrieved from the web www.JSTOR.org on 8th October 2021

consonants or (more probably) from the circumstance of their being placed between the mutes and spirants in the arrangement of the consonants. Y and V are highly demandable and possesses higher vibrational labial frequency and acts as a vowel in some circumstances. R and L are very widely interchangeable in Sanskrit phonetics, both in roots and in suffixes and R also possesses very high vibrational labial frequency on the list of consonants. L is very peculiar in nature because of involvement expulsion at the side of the tongue along with contact at its tip. Since semivowels are very high in vibrational frequency and act as a connector or substitute of vowel and consonants, alike sonant, they are also very powerful.[1]

Our Vedic prophesiers emphasized on syllables also to manifest a desirable name for a child. Linguistically, syllables are produced by combining of vowels and consonants.

In the number theory of venerable mathematician and astronomer Āryabhaṭa's Āryabhatiya, we observe an unparalleled alpha-numeric coding system which depends on the phonemes of the Sanskrit alphabets,-

vargākṣarāṇi varge'varge'vargākarāṇi kāt ṅmou yaḥ.
khadvinavake svarā nava varge'varge navāntyavarge vā.

-Āryabhaṭiya.½

The primary rule of this cabalistic scheme is that consonants are ascribed specific integer values and vowels are used to represent decimal powers.[2] Each of the vowel sounds (semi vowels and diphthongs)

---

1. Sanskrit Grammar> Semi Vowels, retrieved from the web www.en.m.wikisource.org on 22nd October 2021
2. Consonants in Āryabhaṭa's Alpha-Numeric System:-
   Sanskrit Varga Consonants :-

k	kh	g	gh	ṇ
1	2	3	4	5
c	ch	j	jh	ña
6	7	8	9	10
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
11	12	13	14	15
t	th	d	dh	n
16	17	18	19	20
p	ph	b	bh	m
21	22	23	24	25

depending on the value of the consonants with which it forms a syllable. According to the alpha-numeric code, the vowels indicate higher power than consonants. Hence, when a syllable form containing more vowels than consonants in a name, it becomes superior powerful and positive.[1] 'Physics reveals that, every substance in our universe is made up of tiny units called atoms - their movements generate an electric current and causes each electron to act like a microscopic magnet. In our atomic universe through this magnetic attraction, every substance positively attracts with similar positive protons and negatively attracts with similar negative electrons to set up a vibratory condition that allows us to hear. Without vibration, nothing will be existed. Because everything is composed of a basic universal substance that appears different only because of that substance's groupings of atoms and their rate of movement.'[2] In modern time, we are experiencing this ancient Vedic method after successful invention of practical telephone by our revered scientist Alexander Graham Bell, in which we are experienced number, sound, and electromagnetism altogether in one touch telecommunication and wireless modern technical devices such as mobile, modem, computer, etc. to

---

Non - Varga Consonants:-

y	r	l	v	ś	ṣ	s	h
30	40	50	60	70	80	90	100

Vowels in Āryabhaṭas Alpha - Numeric System:

Vowels following Varga Consonants :-

a	i	u	ṛ	l	e	ai	o	au
10^0	10^2	10^4	10^6	10^8	10^{10}	10^{12}	10^{14}	10^{16}

Vowels following Non- Varga Consonants:

a	i	u	ṛ	l	e	ai	o	au
10^1	10^3	10^5	10^7	10^9	10^{11}	10^{13}	10^{15}	10^{17}

1. Anonymous: 2022, pp. 76 - 78
   Āryabhaṭa: 1976, pp. 77 -79
   Plofker: 1963, pp. 74, 300
2. Feynman et al: 1963, pp. 2- 4.
   Young et al: 2008, pp. 918 - 919.
   Purcell: 2013, p. 839.
   Jiles:1998, p. 3.
   Feynman et al: 1964, pp. 1.7 - 1.8.
   Rothman: 1963, pp. 101 - 104, 123 - 145.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org on 13th April 2022.

connect to the world of physical and cosmic objects.[1] Because by using of Alpha-Numeric code through signifies the superlative power of vowels, the great physicist, and physiologist Hermann L.F. Helmholtz and his follower our beloved great scientist and inventor Alexander Graham Bell applied the theory of vibration through established the relation between sound and electricity in the field of electromagnetism by using mathematical, mechanical and physical theory of Sympathetic Vibration or natural phenomenon of harmonic vibration in the invention of Telephone which defines that wherein a passive string or vibratory body responds to external vibrations to which it has a harmonic likeness. The classic example is demonstrated with two similarly tuned tuning forks. When one fork is struck and held near the other, vibrations are induced in the unstruck fork, even through there is no physical contact between them because of similar vibrational frequencies in which we observe a sharp reflection of Vedic theory of naming ceremony.[2]

Our ancient, honored Vedic seers instructed us to choose a kṛdanta for manifestation of a name. In Sanskrit grammar 'kṛdanta pada' specified as a prātipadika or name followed by the sutras of great pāṇini, 'kṛttaddhitasamāsāśca (Aṣtādhyāyī. 1/2/46).[1] Furthermore, our venerable ācārya Āśvalāyana said that visarga should follow the name at end. In

---

1. Retrieved from the website www.en.m.wikipedia.org> Telephone Number on 13th April 2022.
   Retrieved from the website www.britannica.com on 13th April 2022.
   Retrieved from the website www.scienceworld.ca> Telephone Lines on 13th April 2022.
   Retrieved from the website www.ext.vt.edu> makers > files > The science behind it, Telephones on 13th April 2022.
2. Helmholtz:1885, pp.. 25 - 28, 36 - 45, 103 - 119
   Bell:1878, pp. 12 - 27
   Bell:1908, pp. 7 - 19
   Retrieved from the web www.archieve.org on 19th April 2022
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Sympathetic resonance on 19th April 2022
   Retrieved from the web www.lemelson.mit.edu> resource > Alexander Bell on 19th April 2022
   Retrieved from the web www.explainthatstuff.com> How do Telephones work? on 19th April 2022
3. Pāṇinī: 2021, p. 4 retrieved from the website www.sanskrit-documents.org on 12th April 2022.

Sanskrit alphabets, a visarga is not substantiated with vowels or consonants - it is rewarded as an 'ayogavāha varṇa'. In a Sanskrit word, visarga is always applied after vowel because it has no fixed vocalization. When visarga conjoined with vowels, visarga possessed same seat of utterance as vowel. Since, concerning the theory of our great Āryabhaṭa, vowels acquired higher power than consonants, so, adding visarga as a vowel at the time of manifestation of a name conduced more positive power. When visarga acquired (uttering) place companied with name or 'prātipadika', it is characterized as a suffix or pratyaya and manifest a name by following the sutra of great grammarian Pāṇini, 'sup tiṅantaṃ padam' (Aṣṭādhyāyī. 1/4/14).[1] When a name becomes a word, the supreme atomic power concealing into it'[2] through its intermediate part of root and suffix, 'namati ākhyāta śabde guṇabhāvena athavā Namayanti svayam ārthām ākhyāta śabda vācye guṇabhāvena iti nāmāni.'[3] Concerning to our renowned grammarian patañjali in his great Mahābhāṣya, 'daśamī uttarakālaṃ putrasya jātasya nāma vidadhyāt ghoṣavat ādya antara antaḥstham avṛdhaṃ tripuruṣānūkramaṇa ari pratiṣṭhitam. tad hi pratiṣṭhitamaṃ bhavati. dvayakṣaraṃ caturakṣaraṃ vā nāma kṛtaṃ kuryāt na taddhitam iti.'[4] which reminds us regarding our ancient Vedic ceremony in which kṛdanta pada had preferred by our venerable seers for manifestation of a name. In our revered bṛhaddevata, we hear reverberation of the same,-

> ***kṛdantaḥ śabdābhihito yadā syāt.***
> ***Saṃkhyāvibhaktiavyayaliṇgayukto bhāvaḥ tadā dravyam iva upalakṣya.*** *(Bṛhaddevatā. 1/45)*

---

1. Pāṇinī: 2021, p. 9 retrieved from the website www.sanskrit-documents.org on 12th April 2022.
2. Anonymous: 2022, p. 80
3. Upadhyay & Upadhyay: 1995, p. 778
   Lougākṣibhāskara: 1934, p. 1- 7.
   Jaimini: 1873, pp. 3 -6.
   Karmajanyam apīrvaṁ yathā maraṇād ūrdhaṃ jīvena saha gacchati tathā vidyājanyam api apūrvaṃ gacchati. tathā ca vājasaneyina āmananti - 'taṃ vidyākarmaṇī samanvārabhete pūrvaprajñā ca' iti (śatapatha Brāhmaṇa. 14.7.2.3; Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad. 4.4.2; Ṛgveda bhāṣyopakramaṇikā, edited by Shanti Bandopadhyay, p. 100)
4. Patañjalī:1968, p.15 retrievedfrom the web www.archieve.org on 28th April 2022.

Therefore, our ancient venerated ācārya yāska in his renowned Nirukta said, 'mūrtaṃ sattvabhūtaṃ sattvanāmabhirvrajyā paktiriti' (Nirukta. 1/1).[1]

In our ancient revered etymological dictionary 'Nirukta', word is referred as a universal bonding which bound us in this mundane and cosmic world,-

'vyāptimattvāt tu śabdasya. vyāpanaṃ vyāptiḥ. sā yasmin asti so ayaṃ vyāptimān śabdaḥ (vyāpti + matup). tad bhābo vyāptimattvam'[2] which we observe through the first śloka of Bhartṛhari in his famous Brahmakāṇḍa of vākyapadīya that signifies sound energy.

Scientific relation between sound and electromagnetism or electromagnetic atomic vibration:-

Our human body formed by colligating five basic elements of nature, viz., air, water, fire, earth, and space[3] among them space produced air, 'ākāśāt vāyu'[4] atoms which are cause of manifestation of water molecules by mixing of hydrogen and oxygen.[5] The air or gases such as oxygen, carbon di-oxide, nitrogen, and water vapor combined to produce fire molecules.[6] These water, nitrogen, oxygen, carbon, and other gases conjoined to produce earth molecules[7] which are essential elements of our health,-

'tatra gandhavatī pṛthivī. sā dvividhā nityā anityā ca. nityā paramāṇurupā. śarīram asmadādīnām. gandhavat śarīraṃ parthiva śarīram' (Tarkasaṃgraha, sūtra 10). 'śītasparśavatya āpaḥ. śarīraṃ varuṇaloke' (Tarkasaṃgraha, sūtra 11). 'uṣñasparśavat tejaḥ. śarīram ādityaloke' (Tarkasaṃgraha, sūtra 12). 'ruparahitasparśavān vāyuḥ. śarīram vāyuloke.

---

1. Yāska: 1921, P. 5
2. Ibid, p. 19
3. www.newindianexpress.com> Five elements and formation of the bodyon 12th April 2022.
4. Sadānanda: 1931, p. 44 - 64
5. Retrieved from the webwww.en.m.wikipedia.org> Wateron 12th April 2022.
6. Retrieved from the web www.thoughtco.com> What is fire made of? Chemical Composition - Thought co. on 12th April 2022.
7. Retrieved from the web www.forces.si.edu> The earliest atmosphere - forces of change on 12th April 2022.
   Retrieved from the web www.climate.nasa.govon 12th April 2022.

śarīrantaḥ saṃcārī vāyuḥ prāṇaḥ' (Tarkasaṃgraha, sūtra 13).[1]

Therefore, it is crystalline clear that ākāśa or space and air are fundamental cause of our existence and manifestation of our cosmic universe. Human body consists of about 96% air molecules.[2] These all kinds of atomic cells are vibrated and interacted with other atomic cells by producing sound which is traceable. Modern physicists have proved that one atom can produce sound that can be measured 0.01milimiter long coupled to Phonons (smallest subatomic particle of an atom) or 'quanta of vibration' - the smallest possible units of sound waves[3] because they all consists of air, which is produced in the space,- 'śabdaguṇakam ākāśam. tat ca ekaṃ vibhu nityaṃ ca' (Tarkasaṃgraha, 14).[4] 'vāyuḥ kāraṇabhūtaḥ śabdasya, sa ca khāt ākāśāt utpadyate', 'vāyoriyaṃ vibhūtiryā trayī vidyā', 'ākāśāt vāyuḥ' (Vājasaneyī prātiśākhya, 1/6 - 9).[5] This air generated through the space wandering this cosmic universe and known to us by its different unique name for different works. When this universal element air through atomic interaction transforms into fire, water and earth helps to construct human body and helps in speech, respiration, reproduction, excretory action, stretch, contraction, expansion etc. to execute any work through our organs, digestion, regulate and balance human body,- it known to us as *udāna, prāṇa, apāna, vyāna and samāna* accordingly.[6] When we are trying to talk something, then our internal air which is famous by its name as samāna through atomic interaction forces the stomach especially pancreas in which Agni situated to ignite the fire to produce essential

---

1. Annaṃbhatta: 1919, pp. 3 - 5
2. Retrieved from the web www.livescience.com> the Chemistry of Life: The Human Bodyon 12th April 2022.
3. Retrieved from the web www.biobeat.nigms.nih.gov> Elements that keep us alive also give colour to fireworkson 12th April 2022.
   Retrieved from the web www.iflscience.com> physics > Scientists capture the sound of an Atom for the first timeon 5th January 2022.
4. Annaṃbhatta: 1919, p. 6
5. Kātyāyana: 1934, pp. 7 - 8
6. Ya ime śarīrā iha pañca vāyavo nānākarmāṇaḥ prānāpānavyānodāna-samānas teṣāṃ prāṇo hi nābheḥ upariṣtādvayāpi āsye vyācarati. Nābheradhastāt pāyumedhyo apānaḥ. Prasāraṇākuñcanotkṣepaṇā-vakṣepaṇagatikarmā vyānaḥ. Karmapravṛttiṣu valam āropayati udānaḥ. Sarva kriyāṇām uparamaṇaḥ samānaḥ. (Ṛgveda prātiśākhya, Uvata bhāṣya, 13/1) Sadananda: 1931, pp. 52 -55

enzymes to break down foods into carbohydrates, fats, proteins to digest the foods and produce hormones to regulate blood sugar level, regulate stomach acids and appetites.[1] This digestive fire forces the air called *prāṇa* which situated in the lung to vibrate the larynx (for voice pitch and tone) through the air called udāna for phonation in which the vocal cords (rubber band like tissues made of atomic cells located at voice box or larynx or just above the windpipe) are vibrated to produce sound and create a distance between them to close the glottis. Now, the willing speaker who want to speak something, try to produce sound, the air continuously rubs on glottis using head, throat, palate, cheek, teeth, tongue, nose, and lips kicked out from our mouth as a sound for knowledge and conversation [2],-

vāyuḥ prāṇaḥ koṣṭhyam anupradānam
kaṇṭhasya khe vivṛte saṃvṛte vā
āpadyate śvāsatāṃ nādatāṃ vā vaktrīhāyām

-Ṛgveda Prātiśākhya, 13/1.[3]

'śarīre śarīrai ekadeśe mukhe prīptou vāyus tālvādisthāneṣu niṣaktaḥ karaṇena viśeṣavyaktirupeṇa varṇatvam āpadyate' (Uvata bhāṣya, Vājasaneyī prātiśākhya, 1/14).[4] 'vāyoḥ śarīraiḥ samastasya īraṇāt kaṇṭhasya urasaśca saṃdhāne śabdasya utpattiḥ bhavati. Atra ucyate - oudareṇa agninā samīrita ūrdhaṃ nābheḥ utthito vāyuḥ kaṇṭhasya urasaśca

---

1. 'The digestive process: what is the role of your pancreas in digestion?' retrieved from www.hopkinsmedicine.org on 22nd February 2022.
2. upariṣtāt mukhād agra ūrdhvaṃ yo vartate anilaḥ
   urdhvakarmakriyāḥ sarvāḥ prāṇināṃ sampravartayan.
   nābhyuro 'tha śirobhāgaṃ gacchan karaṇasaṃyutaḥ
   kaṇṭhatālvoṣṭhadantānāṃ saprayatnaḥ samīritaḥ.
   hrasvadīrghaplutān varṇān snigdhān kṣāṃ ca naikadhā
   udāttānnudāttāṃ ca svaritān kampitān api.
   samānvikīrṇāṃ ca tathā saṃvṛtāni vivṛtān api
   dehinām avabodhārthaṃ tena udānaḥ sa ucyate. (Ṛgveda Prātiśākhya, Uvata bhāṣya, 13/1)
   Helmholtz: 1885, pp. 103 - 105
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Phonation on 12th April 2022.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Human voice on 12th April 2022.
3. Śaunaka: NA, P. 679
4. Kātyāyana: 1934, p. 10

saṃdhāne, taistaiḥ karaṇaviśeṣaiḥ pīdyamānaḥ, śanaiḥ śanaiḥ mukhanāsikābhyāṃ vinissṛtaḥ śabda iti abhidhīyate' (Taittarīya Prātiśākhyā, Māhiṣeya bhaṣya, 1/2/2).[1]

Sound is mainly mechanical energy & atomic vibration and bonding between atomic cells is basically cause of electromagnetic force.[2] Now the question is that what is the connection between sound and electromagnetism? Sound is only a magnetic wave or vibratory frequency, but electromagnetic energy is made of both electric and magnetic energy, hence, how sound converted to the electromagnetic energy to interact with electromagnetic atomic cells? How a simple process of verbal positive sound produced by uttering a simple 'name' generate a lifelong energy for healthy wellbeing?

Sound energy and electromagnetic energy - both waves carry commonly energy from one to another atomic cells, have wavelength, frequency, and velocity[3], according to the law of ther modynamic discovered and explained by our great modern physicists which is also applicable in other natural sciences, e.g., chemistry, biology etc.[4] Sound energy is also converted into electromagnetic energy through the principle of universal electromagnetic induction theory.[5]

---

1. Māhiṣeya:1930, p. 17
2. Retrieved from the web www.scienceworld.ca> Sound on 23rd October32021.
   Retrieved from the web www.justenergy.com> Sound energy - Everything you need to know on 23rd October 2021.
   Retrieved from the web www.analyticssteps.com> What is sound energy? On 23rd October 2021.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Electromagnetically induced acoustic noise on 23rd October 2021.
3. Retrieved from the web www.socratic.org> How would you compare and contrast sound waves and Electromagnetic waves? On 23rd October 2021.
4. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Laws of thermodynamics on 22nd October 2021.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Biological thermodynamics on 22nd October 2021.
5. Bhatnagar: 2012, 'Converting sound energy to electric energy', vol. 2, issue 10, retrieved from the web www.ijetae.com, ISSN : 2250 -- 2459 on 23rd October 2021.

Electromagnetic induction theory is mainly a physical process of producing electric charge in a mechanical wave which is created by vibration of a matter, e.g., vocal cords. These vocal cords interact with other cells, these cells communicated with other cells and so on. This transmission of energy from one to million surrounding cells or electrical conductor (because all cells are manifested by positively or negatively charged atoms, so, these atoms ateare conducted electrical energy) in a magnetic field (because of consisting of carbon at the time of cell manifestation) generated an electromotive force by which sound or mechanical energy converted to the electrical energy and conjoined to produce electromagnetic energy.[1]

In the guṇakhaṇḍa of Bhāṣāpariccheda of our venerable Indian philosopher Viśvanātha, we perceive replication of the theory of thermodynamic and electromagnetic induction at the time of sound production,

'sarvaḥ śabdo nabhovṛttiṭ śrotrotpannastu gṛhyate'.

'vīcitaraṇganyāyena tad utpattistu kīrtitā.

kadamvakorakanyāyād utpattiḥ kasya cit mate.' (Bhāṣāpariccheda, 165 - 166). 'vīcitaraṇganyāyena kadamvamukulanyāyena vā śabdāt śabdāntarotpattikrameṇa śrotradeśe jātasya śrotrasaṃbandhāt pratyakṣatva saṃbhavāt.' (muktāvalī of Bhāṣāpariccheda, 165 - 166).[2]

Our ancient venerable Vedic scholars were well-equipped regarding these universal physical theories. They were well- known about the fact that sound have an electromagnetic component, hence, electromagnetic energy is produced by sound propagation through air which is created by space and modulated by the same sound periodically that creates electromagnetism. The entire process of Vedic naming ceremony generated a powerful positive vibratory frequency through sound wave by vibration and communication between atomic cells which are made of electromagnetic force through physical process of electromagnetic induction due to the first and second law of thermodynamic which states that energy cannot be created or destroyed but can be transformed by which we are all atomic cosmic and mundane substances vibrated communicated and attracted by each other to manage minimum energy

---

1. ibid on 23rd October 2021.
2. Viśvanātha :1977, pp. 266 - 267

levels in all living or non - living organism of mundane and cosmic world.[1]

Conclusion:-

Manifestation of the cosmic universe is beyond our understanding. Our ancient, revered prophesiers having great personality and diversity were immerse in cogitation to find out solution for the daily problems and get unique awesome innovative scientific thoughts which they used and advised to us through some apparently peculiar rules to execute daily domestic observances.

We all living and non-living organism relate to each other through covalent atomic bond through electromagnetic force. Our venerable archaic Vedic prophets were well known regarding universal scientific law of electromagnetism, hence, they emphasized on sonant, semivowels, syllables, and kṛdanta pada to form a name to remind oneself through repetitive utterances which makes a strong positive vibration through sound waves, 'nāmagrahaṇam smaraṇārtham' (ṚgVeda prātiśākhya).[2] In this vibrating universe everything is vibrated at its own frequency and wavelength. When we truly experience some sound, this sound reaches to the hippocampus region of our brain which is specialized for its unique codifying, structuring. Currently, we have almost reached to the peak of

---

1. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> laws of thermodynamics on 22nd October 2021.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Electromotive force on 22nd October 2021.
   Retrieved from the web www. iopscience.iop.org > pdf > Power generation using sound by Piezo Electric material - IOP science on 23rd October 2021.
   Retrieved from the web www. ieeexplore.ieee.org > Generation of electrical energy from sound energy by M. Garg, D. Gera, A. Bansal and A. Kumar, 2015 retrieved on 23rd October 2021.
   Retrieved from the web www.need.org> Sound is change. Sound is energy on 23rd October 2021.
   Retrieved from the web www.engadget.com> Researchers convert soundwaves into electromagnetic energy, silence no longer golden by Mat smith, 2011 on 23rd October 2021.
   Reid, 'The special relationship between sound and light, with implications for sound and light therapy', 2006, retrieved from the web www.researchgate.net on 23rd October 2021.
2. Śaunaka: NA, p. 14

superior progression with holding hands of our ancient venerable Vedas, autobiographical and episodic memories (memories of people, place, and events) through electrochemical representation of translated impulses of neurotransmitters, proteins, amino acids, and icons to execute storing and retrieving process.[1] When we learn some sound first time through experience or utterance of some or someone's name and when we are recalling it, because of same neural process of learning and retrieving, every time we are vibrated by cell interaction to connect with the universal electromagnetic force by transforming the energy concerning to the law of electromagnetic induction by following the principle of thermodynamic theory for a positive and energetic life. Now, through careful observation regarding comparison between Vedic and modern societies, it is crystalline clear that, we are precocious in all aspects and we have almost reached to the peak of superior progression because our existence progression and progressive knowledge is concealed in ancient Vedic civilization civilization, where our existencelies. They were advanced in every field of knowledge e.g., Physics, chemistry, biology, Mathematics, astronomy, etc. which initiate and motivate us for our betterment in day by day. The age at which science is advancing today, many centuries before the birth of science, in the Vedic age, peoples were able to make much more

---

1. Retrieved from the web www.livescience.com> How are memories stored in the brain on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.quora.com> How our memory store in the brain answered by Dr. Paul king, Assistant Professor, UC Barkley Redwood Centre for Theoretical Neuroscience, 2019 retrieved on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.ncbi.nlm.nih.gov> The Neuroanatomical, Neurophysiological, and psychological basis of memory: current models and their origins by Eduardo Camina and Francisco Guell on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> recall on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Neuroanatomy on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.ncbi.nlm.nih.gov> pmc > neuroanatomy learning etc on 20th February 2022.
   Retrieved from the web www.oxford.universitypressscholarship.com> Functional neuroanatomy of learning and memory. on 20th February 2022.

progress. Currently, we have almost reached to the peak of superior progression with holding hands of our ancient venerable Vedas. Therefore, we are unanimously accorded with the truth that Vedic science and culture is the pre developmental stage of our modern science and modern developmental society. Following the superior thoughts of the Vedas, science has discovered a lot and will continue to do so in future also.

Bibliography

1. Abhyankar, K. V. 1961. *A Dictionary of sanskrit Grammar*, 1st ed., Baroda: Oriental institute, pp. 201 - 202.
2. Anonymous, 2021. "Significance of the Auspicious Vedic Naming ceremony". Journal of the Ganganath jha campus. Vol. LXXIV Part 1-4, pp. 73 - 84. ISSN: 0377 - 0575.
3. Āryabhaṭa. 1976. *Āryabhaṭīya of Āryabhaṭa (Commentary Of Bhāskara I & Someśvara)*. 1st ed.1976. Edited by kripa Shankar shukla.Shukla (ed.). New Delhi: Indian National Science Academy, 1976.pp. 77 - 79.
4. Bell, Alexander Graham. 1878. *The Telephone A Lectur* Currently, we have almost reached to the peak of superior progression with holding hands of our ancient venerable Vedas. *E Entitled Researches in Electric Telephony.* Delivered before The Society of Telegraph Engineers on 31st October 1877. Lieut. Col. Frank Bolton & William Edward Langdon (ED.). London & New York: The Society of Telegraph Engineers, pp. 12 - 27..
5. ._. 1908. *The Bell Telephone The Deposition of Alexander Graham Bell In the suit brought by the United States to Annul the Bell Patents.* Boston: American Bell Telephone Company, pp. 7 - 19.
6. Feynman, R.P, Leighton, R.B, and Sands, M. 1963. *Feynman The Feynman Lectures on Physics.* Vol.1. The new millennium edition. California: California Institute of Technology, pp 2-4
7. ._. 1964. *Feynman The Feynman Lectures on Physics*. Vol. 2. California: California Institute of Technology, pp. 1.7 - 1.8.
8. Gilbert, William. 1893. *DE Magnete.* P. Fleury Mottelay. 1st ed. 1958, rpt. with trans. 1893. Library of Congress catalogue card number 58-12616. New York: Dover Publications, Inc, pp. 28 - 31.

9. Gray, Theodore. 2016. *Molecules - The elements and the Architecture of everything*. 1st ed. 2016. New York: Black Dog & Leventhal Publishers. ISBN: 978-0-216-39283-9, pp. 16 - 17.

10. Helmholtz, Hermann L. F. 1885. *On The Sensations of Tone As a Physiological Basis for the Theory of Music*. 2nd Ed. 1st Ed. 1877, RPT. 1885. Alexander J. Ellis (Trans.). London: Longmans, Green, And CO, pp. 25 - 28, 36 - 45, 103 - 119.

11. *Jiles, D. C. 1998. Introduction to Magnetism and Magnetic Materials. 2nd Ed. New York: Taylor & Francis (CRC Press)*, p. 3.

12. Oldenbarg, Hermann. 1886. *The Grihya - Sutras.* pp. 31, 76, 118, 189, 246, 272 retrieved from the web www.archeive.org.

13. Plofker, Kim. 1963. *Mathematics in India.* 1st ed.1963. UK: Princeton University Press, 1963pp. 74, 300.

14. Purcell, E. M. 2013. *Electricity and Magnetism.* third ed. Cambridge: Cambridge university press, p. 839.

15. Rothman, M. A. 1963. *The Laws of Physics.* 1st ed., USA: Penguin Books, pp. 101 - 104, 123 - 145.

16. Whitney, W.D. 1877. "Transactions of the American Philological Association (1869 - 1896)". The John Hopkins University Press. Vol. 8, pp. 41 - 57. Doi: 10.2307/2935720.

17. ._. 1879. *A Sanskrit Grammar.* Boston: Breitkopf and Hartel, Leipzig, Ginn & Company, p. 22.

18. Williams, Monier Monier. 1899. *A Sanskrit - English Dictionary.* New Edition. Delhi: MLBD, 1899, p. 536.

19. Young, H. D, Freedman, R. A. and Ford, A. L. 2008. *Sears and Zemansky's university Physics:* with modern physics. Vol. 2. USA: Pearson Addison Wesley, pp. 918 - 919.

Reference List of Vedic core texts and dictionaries :-

1. Annaṃbhatta. 1919. Tarka Saṃgrahaḥ. 6th ed. Mumbai: Nirnaya sagar press, pp. 3 - 6, 38 - 40.

2. ._. 1976. Tarka Saṃgrahaḥ dīpikā. Uttara pradesh hindi grantha academi prakashan 172. Ananda Jha (ed.). Lucknow: Uttara Pradesh Hindi Grantha Academi, p. 61.

3. Āpastamba. 1893. *Āpastamba Gṛhya Sūtra (with the commentary of Sudarśanācārya). A. M. Śāstrī* (ed.). Mysore: Govt. Branch press, p. 220.

4. *Āśvalāyana*. 1923. *The Āśvalāyana Gṛhya Sūtra (with the commentary Anāvilā of haradatta Miśra)*. Trivandrum Sanskrit Book Series LXXVIII. T. G. Śāstrī (ed.). Trivandrum: Under the authority of Maharaja, p. 62.

5. Upadhyay, Chandra Sekhara and Upadhyay, Anil kumar. 1995. Vaidika Kośa. 1st ed. 1995. Vol. 1. Delhi: Nag Publishers, p. 778.

6. Kātyāyana. 1934. *Vājasaneyī Prātiśākhya of Kātyāyana with the commentaries of Uvaṭa and Annaṃbhaṭṭa.* Madras University Sanskrit series no. 5. Venkatarama Sharma (ed.). Madras: University of madras press, pp. 7 - 8, 10, 26, 325 - 326.

7. Kouśika. 1934. *Atharvavedīya kauśika Gṛhya Sūtram (with the commentary of Dābhilakeśava).* U. N. Singh (Trans.), Mozaffirpur: Śāstra Prakāśa Bhavana, pp. 142 - 143.

8. Kouṣitaki. 1944. *The Kouṣītaka Gṛhyasūtras (with the commentay of Bhavatrāta)*. T. R. Chintamoni (ed.). Madras: University Of Madras, pp. 58 - 59.

9. Khādira. 1955. *Khādira Gṛhya Sūtram (with the commentary Sutrartha Bodhini of Sri Pattabhiramarya).* Srirangam: Sri Vani Vilas Press, p. 70 - 71.

10. Gobhila. *Sāmavedasya Gobhiliya Gṛhya Sūtram.* Vedic literature Collection, Maharishi University of Management. Collected from online in PDF format accessed on 17/07/2020, p. 523

11. Jaimini. 1873. *The Aphorisms of the Mimamsa with Commentary of Śavara - Svamin.* Bibliotheca Indica, Collection of Oriental Works, New Series Nos. 44, 85, 95, 101, 115,142, 154, 174, 208. Vol. 1. Adhyayas 1 - 6. Edited by Mahesachandra Nyayaratna.Calcutta: The Asiatic Society of Bengal, pp. 3 - 6.

12. Deva, Radha Kanta. 1967. Shabda Kalpa Drum. Third Ed. Vol. 2nd (part). 5 vols. Varanasi: The Chowkhamba Sanskrit Series Office, pp. 861 - 862.

13. Drāhyāyaṇa. 1914. *Drāhyāyaṇa Gṛhya Sūtravṛttiḥ (with the commentary of Rudraskanda)*. Anandashrama Sanskrit Book Series No. 74. H. N. Apte (ed.). Poona: Anandashrama Press, p. 40.

14. Patañjalī. 1968. *Vyākaraṇa-Mahābhāṣya (prathama nava āhṇika)*.1st ed. Charudeva shastri (trans.). Delhi: MLBD, pp. 4, 12, 13, 15.

15. Pāṇinī.2021. *Aṣtādhyāyī.* Retrieve from the website Sanskrit-document.org in PDF format, pp. 4, 9.

16. Pāraskara, 1982. *Paraskara Gṛhya Sūtra (with the five commentaries of Karka Upādhyāy, Jayarāma, Harihara,Gadhādhara and Viśvanātha)*, M. G. Barke(ed.), 1st ed. 1917, rpt. 1982. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., p.170.

17. Boudhāyana. 1904. *The Bodhāyana Grihya - Sūtra.* Vol. 1. L. Srinivasacharya (ed.). Government oriental library series. Mysore: Published under the Authority of the Government of his highness the Maharaja of Mysore (Government Branch Press), p. 35.

18. Bhatta, V. P. 1827. *The Bhasa Parichheda and Siddhanta Muktavali an Elementary Treatise on the terms of Logic, with its Mentary.* Calcutta: Education Press, pp. 57 - 58.

19. Bhattacharyya, *Viśvanātha Nyaya Pañcānana*. 1977. *Bhāṣā Parichheda with Siddhānta Muktāvalī*. 1st ed. Madhavananda (Trans.). Calcutta: Advaita Ashrama, pp. 266 - 267.

20. Bhattacharyya, Tārānāth Tarkavācaspati. 1962. *Vācaspatyam.* Vol. 5. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit series Office, pp. 4038 - 4039.

21. Bhattoji Dīkṣita. 1910. *The Siddhānta Kaumudī - Pūrvārdham (With the Commentary Śri Bālamanõramā of Vasudeva Dīkṣita)*. S. C. Sastrigal (ed.). 1st ed. Tamil Nadu: ST. Joseph's Industrial School Press, pp. 25, 111.

22. Bhāradvāja. n.d. *Bhāradvāja Gṛhya Sūtram.* Vedic literature Collection, Maharishi University of Management. Collected from online in PDF format accessed on 16/07/2020, p. 718 (1/26).

23. Bhartṛhari. 1971. *The Vākyapadīya.* Studies in the Vākyapadīya. Vol. 1. Cantos 1 & 2. K. Raghavan pillai (ed.). Delhi: MLBD, p. 1.

24. Mānava. 1926. *Mānava Gṛhya Sūtra of The Maitrāyaṇīya Śākhā (with the commentary of Aṣtāvakra)*. R. H. Śāstrī (ed.). Baroda: Central Library, p. 83.

25. Māhiṣeya. 1930. *Taittiriya Prātiśākhya with the Bhashya padakra-masadana.* Madras University Sanskrit series no. 1. Venkata- rama Sharma (ed.). Madras: University of madras press, p. 17.

26. Lougākṣi Bhāskara. 1934. *The Arthasaṃgraha of Laugākṣi Bhāskara.* Chowkhamba Sanskrit Series. A.B. Gajendragadkar and R.D.Karmarkar (ed.). Banaras: Chowkhamba Sanskrit Series, p. 1-7.

27. Śaunaka. 1904. *The Bṛhad-Devatā*. Part 1. A. A. Macdonell (ed.). Cambridge: Harvard University Press, p. 4.

28. ._. N.D. *Ṛgveda Prātiśakhyam (Uvvata bhāṣya saṃvalitam)*. Vrajajīvana prācya bhāratī granthamāla 11. Virendra kumar verma (Trans.). Delhi: Chowkhamba Sanskrit Pratisthan, pp. 14, 679.

29. Sadānanda. 1931. *Vedāntasāra.* Nikhilananda (ed.). Himalayas: Advaita Ashrama., pp. 44 - 64 (52 - 55).

30. Sāṇkhyāyana. 1987. Sāṇkhyāyana Gṛhya Sūtram. 1st ed. 1960; rpt 1987. S. R. Sehgal (ed.). Delhi: Sri Satguru publication, pp. 20 - 21.

31. Sāyaṇa. 2010. ṚgVeda - *Bhāṣyopakramaṇikā.* Shanti Bandopadhayay (ed.). rpt.2005, 2010. Kolkata: Sanskrit Pustak Bhandar, p. 100.

32. Sinha, A. 1937. *The Amara - Kosha.* Master Manimala Series No. 85 (Lexicon Series No. 2). M. Lal (ed.). Benaras: Sanskrit Book Depot, Master khelarilal & Sons., p. 288.

33. Yāska. *Niruktam (with Durgācārya Vṛtti)*. Vinayaka Ganesh Apte(ed.). Vol. 1. Ānandāśrama Press, 1921, pp. 4 -5, 15, 19.

External links:-

1. Scattering of light and Tyndall Effect, retrieved from the website www.geeksforgeeks.org.

2. Tyndall Effect, retrieved from the website www.en.m.wikipedia.org.

3. Cooper: 2000, The Cell - A Molecular Approach, The Chemical Components of a Cell, Retrieved from the website www.ncbi.nlm.nih.gov.

4. Atom Audio: Scientists listen to sound of quantum vibrations retrieved from the website www.nbcnews.com.science.

5. 'Talking' and 'listening' to atoms: scientists make acoustic waves couple to an artificial atom from Chalmers University of Technology on September 11, 2014, retrieved from the website www.sciencedaily.com.

6. Mannone & Rocchesso: 2020, 'A quantum vocal theory of sound', Retrieved from the web www.researchgate.net.

7. Scientists capture the sound of an atom for the first time by Stephen Luntz on September 12, 2014, retrieved from the website www.iflscience.com>physics.

8. Waves: Sound and Electromagnetic, Ch. 15, P. 340, retrieved from the website www.web.phys.ksu.edu>chapter15.
9. Retrieved from the web www.archive.org.
10. Sanskrit Grammar> Semi Vowels, retrieved from the web www.en.m.wikisource.org.
11. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org.
12. Retrieved from the websites www.en.m.wikipedia.org> Telephone Number.
13. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Telecommunications.
14. Retrieved from the web www.britannica.com> Telephone.
15. Retrieved from the web www.scienceworld.ca> Telephone Lines.
16. Retrieved from the web www.ext.vt.edu> makers > files > The science behind it, Telephones.
17. Retrieved from the web www.newindianexpress.com> Five elements and formation of the body on.
18. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Water.
19. Retrieved from the web www.thoughtco.com> What is fire made of? Chemical Composition - Thought co.
20. Retrieved from the web www.forces.si.edu> The earliest atmosphere - forces of change.
21. Retrieved from the web www.climate.nasa.gov.
22. Retrieved from the web www.livescience.com> the Chemistry of Life: The Human Body.
23. Retrieved from the web www.biobeat.nigms.nih.gov> Elements that keep us alive also give colour to fireworks.
24. Retrieved from the web www.iflscience.com> physics > Scientists capture the sound of an Atom for the first time.
25. 'The digestive process: what is the role of your pancreas in digestion?' retrieved from www.hopkinsmedicine.org.
26. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Phonation.
27. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Human voice.
28. Retrieved from the web www.scienceworld.ca> Sound.
29. Retrieved from the web www.justenergy.com> Sound energy - Everything you need to know.

30. Retrieved from the web www.analyticssteps.com> What is sound energy?

31. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Electromagnetically induced acoustic noise.

32. Retrieved from the web www.socratic.org> How would you compare and contrast sound waves and Electromagnetic waves?

33. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Laws of thermodynamics.

34. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Biological thermodynamics.

35. Bhatnagar: 2012, 'Converting sound energy to electric energy', vol. 2, issue 10, retrieved from the web www.ijetae.com, ISSN : 2250 - 2459.

36. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> laws of thermodynamics.

37. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Electromotive force.

38. Retrieved from the web www. iopscience.iop.org > pdf > Power generation using sound by Piezo Electric material - IOP science.

39. Retrieved from the web www. ieeexplore.ieee.org > Generation of electrical energy from sound energy by M. Garg, D. Gera, A. Bansal, and A. Kumar, 2015.

40. Retrieved from the web www.need.org> Sound is change. Sound is energy.

41. Retrieved from the web www.engadget.com> Researchers convert soundwaves into electromagnetic energy, silence no longer golden by Mat smith, 2011.

42. Reid, 'The special relationship between sound and light, with implications for sound and light therapy', 2006, retrieved from the web www.researchgate.net.

43. Retrieved from the web www.livescience.com> How are memories stored in the brain.

44. Retrieved from the web www.quora.com> How our memory store in the brain answered by Dr. Paul king, Assistant Professor, UC Barkley Redwood Centre for Theoretical Neuroscience, 2019.

45. Retrieved from the web www.ncbi.nlm.nih.gov> The Neuroanatomical, Neurophysiological, and psychological basis of memory: current models and their origins by Eduardo Camina and Francisco Guell.

46. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> recall.

47. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Neuroanatomy.

48. Retrieved from the web www.ncbi.nlm.nih.gov> pmc > neuroanatomy learning etc.

49. Retrieved from the web www.oxford.universitypressscholarship.com> Functional neuroanatomy of learning and memory.

50. Retrieved from the web www.en.m.wikipedia.org> Sympathetic resonance.

51. Retrieved from the web www.lemelson.mit.edu> resource > Alexander Bell

52. Retrieved from the web www.explainthatstuff.com> How do Telephones work?

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri (Deemed to be University), Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, Uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri (Deemed to be University)

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contact Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
July-December 2022

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।